CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मोक्षाकरगुप्तविरचिता

# बौद्ध-तर्कभाषा

( हिन्दीअनुवादपरिशिष्टद्वयसंवलिता )

जितारिपादविरचितः

## अनेकान्तवादनिरासः हिन्दीअनुवादसहितः

सम्पादकः अनुवादकश्च
काशीविद्यापीठदर्शनविभागाध्यक्षः
डा० रघुनाथगिरिः
एम० ए०, एलएल० बी०, पीएच० डी०, न्यायवैशेषिकशास्त्राचार्यः

प्राच्य प्रकाशन
७४-ए, जगतगंज
वाराणसी–२

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मूल्य ८.००

कापीराइट : प्रकाशकाधीन

प्रकाशक
प्राच्य प्रकाशन
७४-ए, जगतगंज
वाराणसी—२

मुद्रक
श्री हरि प्रेस
सी ६/७३ बागबरियार सिंह
वाराणसी

प्रथम संस्करण
१९६९

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

# TARKABHASHA & ANEKANTAVADANIRASA

OF

MOKSHAKARAGUPTA and JITARIPAD

Edited with a Hindi Translation by
Dr. Raghunath Giri
M. A., LL. B., Ph. D., Nyaya-Vaisheshika Shastracharya
Head : Department of Philosophy
Kashi Vidyapith, Varanasi

Acc 29403 / 21573

PRACHYA PRAKASHAN
74-A Jagatgang
VARANASI-2
1969

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

# भूमिका

भारतीय सांस्कृतिक जीवन का आधार दर्शन है। दर्शन परम सत्य या परम तत्त्व को देखने एवं प्राप्त करने का उपाय, मार्ग या दृष्टि है। सत्य या परतत्त्व के स्वरूप का निर्धारण विशुद्ध विचार से होता है। विचार-कनक की परीक्षा तर्काग्नि में होती है। तर्क की कसौटी से निखरा हुआ विचार विशुद्ध होता है। विचार में दोष, आग्रह, पक्षपात, मोह, बुद्धि की मलिनता एवम् दृष्टि के संकोच के कारण आते हैं। तर्क इन दोषों का निवारण कर विचार को शुद्ध एवम् बुद्धि को निर्मल करने में सहायक होता है। इसलिए तर्क को दर्शन का अनिवार्य एवं अविभाज्य अंग माना जाता है और तर्क में किये गए श्रम को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इस सन्दर्भ में यह उक्ति सर्वथा सत्य प्रतीत होती है :—

मोहं रुणद्धि विमलो कुरुते च बुद्धिं सूते च संस्कृतपदव्यवहारशक्तिम्।
शास्त्रान्तराभ्यसनयोग्यतया युनक्ति तर्कश्रमो न तनुते कमिहोपकारम्॥

तर्क में किया हुआ श्रम मोह को रोकता है, बुद्धि को निर्मल बनाता है, संस्कृत पद के व्यवहार की क्षमता उत्पन्न करता है, अन्य शास्त्रों के अभ्यास की योग्यता प्रदान करता है। इस प्रकार वह क्या क्या उपकार नहीं करता? अर्थात् वह सभी प्रकार के उपकार करता है।

भारतीय दर्शन में तर्कशास्त्र को हेतुविद्या, हेतुशास्त्र, प्रमाणशास्त्र न्यायशास्त्र, आन्वीक्षिकी आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। वात्स्यायन ने आन्वीक्षिकी की महत्ता बतलाते हुए कहा है—

प्रदीपः सर्वशास्त्राणामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता॥

यह आन्वीक्षिकी समस्त शास्त्रों का प्रकाश, समस्त कर्मों का उपाय तथा समस्त धर्मों का आधार है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



भारतीय दर्शन में तर्क का उपयोग मुख्यतया तीन कर्मो के लिए किया जाता है : ( क ) अपने सिद्धान्त की स्थापना एवम् सिद्धि के लिए; ( ख ) अपने मत पर लगाये गए आरोपों, आक्षेपों एवम् दोषों के निवारण के लिए; ( ग ) परमत के खण्डन के लिए। दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय उक्त कार्यों के लिए तर्क का आश्रय लेते हैं अतः सबके लिये तर्क का उपयोग अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार के तार्किक विवेचन से युक्त विचारों को कथा या संवाद कहा जाता है जिसके न्याय में तीन भेद किए गए हैं: वाद, जल्प और वितण्डा। वाद गुरु और शिष्य में होने वाले विचार को कहा गया है। जल्प दो प्रतिस्पर्धियों में अपने मत की स्थापना तथा परमत के खण्डन के लिए होने वाले विचार का नाम है और वितण्डा अन्य मतों के खण्डन मात्र के लिए चलने वाले विचार का नाम है। कभी-कभी वाद शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के तार्किक विचारों के लिए भी किया जाता है और इसके आधार पर तर्कशास्त्र को वादविद्या या वादशास्त्र भी कहा गया है। आर्य असंग इस वादविद्या को ६ भागों में विभक्त करते हैं : (१) वाद, (२) वाद अधिकरण, (३) वाद अधिष्ठान, ( ४ ) वाद आत्मकार, ( ५ ) वाद निग्रह, ( ६ ) वादे बहुकर।

( १ ) वाद के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसका उसके समान अन्य विचारों से भेद करना आवश्यक हो जाता है—( क ) वाद का साधारणतया अर्थ है भाषण जो बोला या कहा जाता है। ( ख ) प्रवाद :—जो बातें लोक में प्रसिद्ध होती हैं। ( ग ) विवाद :—विरुद्ध विषयों से सम्बन्धित वाग्युद्ध का नाम ही विवाद है। ( घ ) अपवाद :—दूसरों के सद्गुणों की निन्दा अपवाद है। ( ङ ) अनुवाद :—धर्म के विषय से सम्बन्धित सन्देह के निवारण के लिए कहे गए वचन अनुवाद हैं। ( च ) अववाद वह भाषण है जो तत्वज्ञान कराने के लिए किया गया हो।

( २ ) वाद-अधिकरण : वह स्थान जहाँ किसी सिद्धान्त के निश्चय के लिए वाद चलता हो ऐसे स्थानों में राजा या बड़े अधिकारी की परिषद तथा ब्राह्मणों या भिक्षुओं की सभा को विशेष महत्व दिया गया है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



( ३ ) वाद-अधिष्ठान : वाद के लिये दक्ष वक्ता की आवश्यकता होती है। वही वाद का अधिष्ठान या संचालक है। उसे ही वाद्-अधिष्ठान कहा जाता है।

( ४ ) वाद-अलंकार : वक्ता के वे गुण या विशेषताएँ हैं जिनके रहने से वक्ता का भाषण अलंकृत हो जाता है। ये गुण पाँच हैं:

(क) स्वपर समयज्ञता:—अपने तथा प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का समुचित ज्ञान होना।

(ख) वाक्कर्म सम्पन्नता:—शास्त्रार्थ के अनुकूल शुद्ध एवं परिष्कृत वाणी के प्रयोग की योग्यता।

(ग, वैशारद्य:—अपने मत के प्रतिपादन के समय निर्भीक रहना, प्रतिपक्षियों से किसी प्रकार भयभीत न होना।

(घ) धीरता:—शास्त्रार्थ में बिना सोचे समझे घबड़ा कर कुछ का कुछ न कहना अपितु धैर्य के साथ सोच समझकर बोलना।

(ङ) दाक्षिण्य :—मैत्री भाव रखना तथा दूसरों को भी अनुकूल लगने वाली बातों का कहना।

( ५ ) वाद निग्रह: उन दोषों की जानकारी जिनके निर्देश से प्रतिपक्षी शास्त्रार्थ में पराजित कर देता है। इन दोषों का विशद विवेचन गौतम के न्याय दर्शन के पञ्चम अध्याय में जाति और निग्रह स्थान के नाम से किया गया है। वहाँ जाति के साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम आदि चौबीस भेद और निग्रह स्थान के प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध आदि बाइस भेद माने गए हैं। किन्तु मैत्रेय ने निग्रह के केवल तीन भेद माने हैं:

( क ) बचन संन्यास—अपने सिद्धान्त को स्पष्ट न समझना।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



(ख) कथाप्रमाद—आवश्यक एवं मतलब की बात न कर इधर-उधर की बातें करना।

(ग) वचन दोष—निरर्थक, बिना सोचे समझे बात करना।

(६) वादे बहुकरः उन समस्त विषयों की जानकारी जिनका शास्त्रार्थ में उपयोग होता है। इसमें अपनी और अपने प्रतिपक्षी की योग्यता का तुलनात्मक ज्ञान, परिषद के अनुकूल प्रतिकूल होने का ज्ञान तथा अन्य इस प्रकार के आवश्यक ज्ञान जिनका शास्त्रार्थ में विजय के लिए आवश्यक होने के रूप में समावेश होता है।

इस वादविद्या या तर्कशास्त्र का प्रधान लक्ष्य परम तत्व या परम सत्य के स्वरूप-निर्धारण के लिए विचार को शुद्ध एवं चिन्तक को प्रवुद्ध करना होता है। प्रवुद्ध चिन्तक प्रमाणों से ही अपने अभिमत तत्व की सिद्धि करता है, अतः तत्व में प्रमाण अपरिहार्य हो जाता है। प्रमाण का समुचित उपयोग तभी हो सकता है जब प्रमाण के स्वरूप, प्रकार एवं प्रामाणिकता का स्पष्ट ज्ञान हो। अतः तर्कशास्त्र में ज्ञान-विचार एवम् प्रमाण-विचार को प्राथमिकता दी जाती है।

तर्क दर्शन का अंग है अतः दर्शन के वर्गीकरण के आधार पर ही तर्क का भी वर्गीकरण किया जा सकता है। भारतीय दर्शन की दो धारायें हैं वेदानुकूल एवं वेद प्रतिकूल। पहले को आस्तिक और दूसरे को नास्तिक कहा जाता है। आस्तिक दर्शन में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा और वेदान्त आते हैं तथा नास्तिक दर्शन में चार्वाक जैन और बौद्ध हैं। जैनों में दिगम्बर और श्वेताम्बर दो भेद हैं; इसी प्रकार बौद्धों में भी सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक और योगाचार आदि प्रमुख भेद हैं। आस्तिक वर्ग के प्रत्येक सम्प्रदाय एक ओर नास्तिकों की मान्यताओं, सिद्धान्तों एवं धारणाओं का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर अपने मत से विरुद्ध आस्तिक मान्यताओं, सिद्धान्तों और अवधारणाओं का खण्डन करते हैं। उसी प्रकार नास्तिक वर्ग के प्रत्येक सम्प्रदाय एक ओर आस्तिकों की सामान्य और विशेष मान्यताओं, सिद्धान्तों और धारणाओं का

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



खण्डन करते हैं और दूसरी ओर नास्तिक वर्ग के अन्य सम्प्रदायों के मतों का खण्डन करते हैं। इसके अतिरिक्त अपने सम्प्रदाय के अन्य उपसम्प्रदायों के मतों, मान्यताओं और सिद्धान्तों का भी खण्डन करते हैं। इस खण्डन-मण्डन की प्रणाली में भारतीय तर्क का बहुमुखी विकास हुआ है और सभी दर्शनों का यह अविभाज्य अंग बना हुआ है।

जब तर्क का उपयोग स्वसिद्धान्त की स्थापन और परमत खण्डन में ही होता है तब सिद्धान्त-भेद से तर्क में भेद होना स्वाभाविक है। फिर भी, कुछ ऐसी बातें हैं जिनका विवेचन सभी तर्कों में होता है जैसे प्रमाण आदि का विवेचन। सभी तर्कों में प्रमाण के स्वरूप, प्रकार, प्रामाणिकता, प्रामाणिकता की जानकारी आदि विषयों का विवेचन हुआ है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रमाणविचार, या ज्ञान-विचार सम्बन्धी बातों में इनमें परस्पर मतभेद नहीं है। इस सम्बन्ध में भी मतभेद तत्त्व-विचार के मतभेद से कम नहीं है और इसलिए वह खण्डन-मण्डन प्रक्रिया यहाँ भी चलती रहती है। इस प्रकार, सभी तर्क एक दूसरे से सहयोगी या प्रतिपक्षी के रूप में उलझे हुए हैं जिनका विशद विवेचन यहाँ प्रासंगिक नहीं होगा। सभी तर्कों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम इनमें ज्ञान के स्वरूप या प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई ज्ञान को गुण मानता है, जैसे न्याय-वैशेषिक; कोई क्रिया या व्यापार जैसे मीमांसक; कोई द्रव्य जैसे औपनिषदिक वेदान्त; कोई सम्बन्ध जैसे हीनयानी बौद्ध या सांख्य। इस प्रकार ज्ञान की विविध परिभाषाएँ की जाती हैं। प्रमाण के प्रकार के सम्बन्ध में भी काफी विवाद है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है, बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान, सांख्य और जैन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन, न्याय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण मानता है। प्रभाकर (मीमांसक) उक्त चारों प्रमाणों के साथ अर्थापत्ति को मिलाकर पाँच प्रमाण मानते हैं जबकि भाट्ट मीमांसक उक्त पाँच प्रमाणों के साथ अनुपलब्धि को जोड़कर छः प्रमाण मानते हैं। इनके अतिरिक्त सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा और परिशेष को पौराणिकों, तान्त्रिकों एवं गणितज्ञों ने प्रमाण माना है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



इस प्रकार हम देखते हैं कि जितने प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदाय हैं उतने ही प्रकार के तर्क हैं फिर भी प्रमुखता के कारण सामान्यतः तर्कशास्त्र को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है—ब्राह्मणतर्क, बौद्ध तर्क और जैन तर्क। समस्त वेदानुकूल सम्प्रदायों के तर्क को ब्राह्मण तर्क नाम दिया जाता है और सभी बौद्ध सम्प्रदायों के तर्कों को बौद्ध तर्क और जैनों के तर्कों को जैन तर्क कहा जाता है। ब्राह्मण तर्कों में न्याय का विशेष स्थान है तथा बौद्ध तर्क के साथ इसके संघर्ष का एक विशाल इतिहास है। दोनों एक से प्रभावित, संशोधित, परिष्कृत और परिवर्द्धित हुए हैं।

अतः इनके तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता के सम्बन्ध में दो राय नहीं हो सकती। गौतमीय न्याय और बौद्ध न्याय तो परस्पर इतना सम्बद्ध है कि इनका तुलनात्मक अध्ययन भारतीय तर्क के गौरव का इतिहास कहा जा सकता है। गौतमीय न्याय के आचार्यों में गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, गंगेशोपाध्याय, वर्द्धमान, वासुदेव, रघुनाथ, मथुरा नाथ, जगदीश, गदाधर आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बौद्धन्याय का सूत्रपात तो पिटक काल में ही हो गया था जिसकी झलक विनय पिटक के चतुर्विध अधिकरणों में मिलती है। ये चतुर्विध अधिकरण निम्नलिखित हैं—( १ ) विवादाधिकरण—विभिन्न राय वाले विषय का निर्णय; ( २ ) अनुवादाधिकरण—वह विषय जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को नियमोल्लंघन का दोषी बतलाता है; ( ३ ) आपत्ताधिकरण—वह विषय जिसमें किसी भिक्षु ने जानबूझकर आचार के किसी नियम या सिद्धान्त का उलंघन किया है; ( ४ ) किच्चाधिकरण—संघ के किसी नियम के विषय में विचार किन्तु इसका क्रमिक विकास बौद्ध दर्शन के चारों सम्प्रदाय वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक एवं योगाचार में होता गया है फिर भी इसका स्फुट रूप नागार्जुन और वसुबन्धु के ग्रन्थों में परिलक्षित होता है। दिङ्नाग ने बौद्ध न्याय को इतना स्पष्ट और समृद्ध बनाया कि उन्हें बौद्ध न्याय के संस्थापक के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इनके ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय में उन समस्त आक्षेपों का उत्तर है जो बौद्ध सिद्धान्त पर किए गए हैं। साथ ही साथ इसमें गौतमीय न्याय, विशेषकर वात्स्यायन के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



सिद्धान्तों की कटु आलोचना भी की गयी है। दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय के खण्डन तथा वात्स्यायन के मत की रक्षा के लिए उद्योतकर भारद्वाज ने न्याय-वार्तिक की रचना की है। उद्योतकर की युक्तियों के खण्डन तथा स्वपक्ष की स्थापना के लिए धर्मकीर्ति ने 'प्रमाण वार्तिक' जैसा महान् ग्रन्थ लिखा। धर्मकीर्ति के प्रहार से पीड़ित उद्योतकर की वाणी रूपी गौ के उद्धार के लिए वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक पर तात्पर्यटीका लिखी। पुनः बौद्धनैयायिकों के खण्डन करने पर उदयनाचार्य ने न्यायवार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि की रचना की। इसी प्रकार गौतमीय न्याय और बौद्ध न्याय दोनों वादी प्रतिवादी के रूप में बहुत समय तक चलते रहे।

बौद्ध न्याय के आचार्यों में नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील आदि का नाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत तर्कभाषा मोक्षाकर गुप्त की रचना है। इसमें बौद्ध दृष्टिकोण से तर्क तथा ज्ञान का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। हरिभद्रसूरि विरचित षड्दर्शन समुच्चय के गुणरत्न रचित तात्पर्यदीपिका नामक टीका में इस ग्रन्थ का निर्देश मिलता है। गुणरत्न का समय १५ वीं शताब्दी में माना जाता है। गुणरत्न ने तर्कभाषा को बौद्ध तर्क के दस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में एक माना है। तर्कभाषा नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—केशव मिश्र ( १२७५ ई० ) द्वारा लिखित तर्कभाषा जिसमें गौतमीय न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन है; जैन तार्किक यशोविजय ( १६०८–१६८८ ) द्वारा रचित तर्कभाषा जिसमें जैन दृष्टिकोण से न्याय का विवेचन किया गया है; और तीसरी मोक्षाकर गुप्त विरचित तर्कभाषा जिसमें बौद्ध दृष्टि से तर्क और प्रमाण का विवेचन किया गया है।

मोक्षाकर गुप्तः—इस ग्रन्थ के प्रणेता पण्डित स्थविर या महापण्डित भिक्षु मोक्षाकर गुप्त हैं। मोक्षाकर गुप्त राजजगद्दल विहार, जो पूर्वबंगाल ( वर्तमान पाकिस्तान ) के बोगरा के पास है, में रहते थे। इनका समय ११०० ई० के करीब माना जा सकता है। इनके द्वारा लिखित केवल यही एक ग्रन्थ उपलब्ध है जो बंगाल के पाल राजा के संरक्षण में लिखा गया था। ये तर्क के विषय में

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



धर्मकीर्ति के अनुयायी प्रतीत होते हैं जो इनके मंगल श्लोक से स्पष्ट हो जाता है जिसमें इन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि बालकों को धर्मकीर्ति का मत बतलाने के लिये तर्कभाषा की रचना हुई है। धर्मकीर्ति के दो ग्रन्थों—प्रमाणवार्तिक तथा न्यायबिन्दु से पर्याप्त उद्धरण इस ग्रन्थमें लिए गए हैं। मोक्षाकरगुप्त ने बौद्ध मत की रक्षा के लिए कुमारिल, त्रिलोचन तथा वाचस्पति एवं अन्य ब्राह्मण तार्किकों के मतों का खण्डन किया है। इस ग्रन्थ के प्रयोजन के सम्बन्ध में ग्रन्थ का उपसंहारात्मक श्लोक अत्यन्त स्पष्ट है जिसमें उन्होंने लिखा है कि यदि इस ग्रन्थ-रचना से मुझे कुछ पुण्य प्राप्त हुआ हो तो वह संसार को दुःख और बन्धन से छुटकारा दिलाने तथा बुद्धत्व प्राप्त कराने का साधन हो। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ-रचना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ या हित की दृष्टि से न होकर लोक कल्याण की दृष्टि से हुई है।

प्रस्तुत तर्कभाषा धर्मकीर्ति की तर्क परम्परा का एक लघु ग्रन्थ है। इसमें केवल तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में प्रत्यक्ष का निरूपण किया गया है और अन्तिम दो परिच्छेदों में अनुमान का। क्योंकि बौद्ध परम्परा में केवल प्रत्यक्ष और अनुमान दो को ही प्रमाण माना जाता है।

भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि या अभाव आदि को भी प्रमाण माना गया है। अतः मोक्षाकर गुप्त ने प्रमाण की परिभाषा के आधार पर अन्य प्रमाणों का खण्डन कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बौद्धमतसिद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान ही केवल प्रमाण हो सकते हैं। अन्य को प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता। प्रमाण 'अपूर्व विषयक सम्यक् ज्ञान' है और प्रत्यक्ष कल्पना रहित अभ्रान्त स्वलक्षण है। प्रत्यक्ष चार प्रकार का होता है ( १ ) इन्द्रिय ज्ञान; ( २ ) मानस प्रत्यक्ष; ( ३ ) स्वसंवेदन तथा ( ४ ) योगिज्ञान। प्रथम परिच्छेद में इन्हीं सब बातों की चर्चा की गयी है।

द्वितीय परिच्छेद में स्वार्थानुमान का विवेचन किया गया है। नव्यन्याय के समान बौद्धन्याय में भी अनुमान के दो भेद माने गये हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान एक मानसिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति को अनुमेय विषय का ज्ञान होता है और परार्थानुमान दूसरे को बोध

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



कराने के लिए प्राप्त ज्ञान की शब्द द्वारा अभिव्यक्ति है। अनुमान का कारण हेतु तीन प्रकार का माना जाता है। स्वभाव हेतु, कार्य हेतु तथा अनुपलब्धि हेतु। इन्हीं तीनों के आधार पर अनुमान संभव होता है। इन तीन हेतुओं से तीन वर्ग के परामर्श वाक्य हो जाते हैं। इन परामर्श वाक्यों का निरूपण उचित उदाहरणों के साथ किया गया है।

तृतीय परिच्छेद में परार्थानुमान का विवेचन किया गया है। हेतु अन्वय, व्यतिरेक और पक्षधर्मता आदि विशेषताओं से विशिष्ट होकर साध्य का साधक होता है। अतः इन तीन रूपों में हेतु का कथन ही परार्थानुमान कहा जाता है। वह अपनी प्रक्रिया में दो प्रकार का होता है— साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् जिनका अति संक्षिप्त निरूपण किया गया है। पूर्व परिच्छेद में वर्णित स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि हेतु के साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् प्रयोग की व्याख्या के प्रसंग में मोक्षाकर गुप्त ने बौद्ध दर्शन के क्षणभंगवाद का विवेचन, नैयायिकों के ईश्वर साधक अनुमान का खण्डन तथा बौद्ध दर्शन के चारों सम्प्रदायों के मत में सिद्ध परतत्व के स्वरूप का विवेचन किया है; साथ ही साथ बौद्धमतसिद्ध व्याप्ति ग्रहण प्रमाण एवं हेत्वाभास आदि का निरूपण भी किया है।

इस लघुकाय बौद्ध तर्कभाषा में बौद्ध तर्क के आवश्यक समस्त अंगों पर संक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन किया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में 'अनेकान्तवादनिरास' शीर्षक से जो अंश दिया गया है वह जितारिपाद की कृति है। जितारिपाद का समय ९४० से ९८० के मध्य माना जाता है। इसमें जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का खण्डन किया गया है। यह अंश पूर्व ग्रन्थ का पूरक ही कहा जा सकता है, क्योंकि पहले अन्य मतों के खण्डन के प्रसंग में जैन के अनेकान्तवाद का खण्डन नहीं किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण में मूल के साथ हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। संस्कृत की थोड़ी जानकारी रखने वाले पाठकों को भी बौद्ध न्याय समझने में यह सहायक सिद्ध हो सकता है। अनुवाद भाषा और विषय दोनों को ध्यान में रख कर किया गया है जिससे वह ग्रन्थ को लगाने तथा विषय को समझने में सहायक बन सके।

रघुनाथ गिरि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

# विषयानुक्रमणी

## प्रथमः परिच्छेदः


| | |
|---|---|
| भूमिका | ६–१२ |
| प्राक्कथन : जगन्नाथ उपाध्याय | १७–३० |
| मङ्गलाचरणम् | १ |
| प्रमाणसामान्यलक्षणम् | १-७ |
| प्रमाणस्य द्वैविध्यम् | ७ |
| प्रत्यक्षशब्दनिर्वचनम् | ७ |
| अनुमानशब्दनिर्वचनम् | ८ |
| प्रमाणसंख्याविप्रतिपत्तिः | ८-९ |
| चार्वाकाभिमतानुमानाप्रामाण्यनिरसनम् | ९-१० |
| शब्दोपमानार्थापत्त्यभावानां प्रमाणान्तरत्वनिरसनम् | १०-१४ |
| उपमान | १४-१७ |
| अर्थापत्ति | १७ |
| अभाव ( अनुपलब्धि ) | १७-१८ |
| प्रत्यक्षलक्षणम् | १९-२५ |
| प्रत्यक्षस्यचातुर्विध्यम् | २३-२५ |
| चित्तचैत्तानां स्वसंवेदनत्वसमर्थनम् | २६-३१ |
| योगिप्रत्यक्षनिरूपणम् | ३१-३४ |
| प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वसमर्थनम् | ३४-३५ |
| प्रमाणफलव्यवस्था | ३५-३८ |


## द्वितीयः परिच्छेदः


| | |
|---|---|
| अनुमानस्य द्वैविध्यम् | ३८ |
| स्वार्थानुमानलक्षणम् | ३८ |
| लिङ्गस्य त्रिरूपत्वम् | ४०-४४ |
| कार्यस्वभावानुपलब्धिहेतुनिरूपणम् | ४४-५४ |


Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



## तृतीयः परिच्छेदः


| | |
|---|---|
| परार्थानुमानलक्षणम्; तस्य द्वैविध्यम् | ५४ |
| स्वभावहेतोस्साधर्म्यवत्प्रयोगनिरूपणम् | ५६-६१ |
| संस्कृतस्य सर्वस्य क्षणिकत्वसमर्थनं च स्वभावहेतोर्वैधर्म्यवत्प्रयोगनिरूपणम् | ६१ |
| कार्यहेतोः साधर्म्यवद्वैधर्म्यवत्प्रयोगनिरूपणम् | ६२ |
| अनुपलब्धेस्साधर्म्यवद्वैधर्म्यवत्प्रयोगनिरूपणम् | ६२-६३ |
| पराङ्गीकृतेश्वरसाधकानुमानस्य निरसनम् | ६३-६६ |
| त्रिलोचनाभ्युपगतस्य वह्निधूमयोःस्वाभाविकसम्बन्धवादस्य निरसनम् | ६६-७१ |
| ईश्वरसाधकानुमाने अनुपपत्तिः | ७१-७४ |
| साधर्म्यवैधर्म्यप्रयोगेषु त्रैरूप्यासिद्धयाशङ्का तन्निरसनं च | ७४-७५ |
| व्याप्तिग्राहकप्रमाणनिरूपणम् | ७५-७६ |
| हेत्वाभासनिरूपणम् | ७७-८३ |
| अपोहनिरूपणम्, सामान्यनिरसनं च | ८३-९० |
| ईश्वरसाधननिरसनम् | ९०-९५ |
| सत्त्वानां शुभकर्मणः जगतः कारणत्वसमर्थनम् | ९५ |
| सर्वज्ञसमर्थनम्, भवपरम्परासमर्थनं च | ९६-९९ |
| वैभाषिकसौत्रान्तिकमतनिरूपणम् | ९९-१०१ |
| आत्माकाशकालदिङ्मनसां निरसनम् | १०१-१०४ |
| अवयविनिरसनपूर्वकं परमाणुमात्रसमर्थनम् | १०४-१०७ |
| निरालम्बनवादः | १०८ |
| विज्ञानस्य साकारत्वनिराकारत्व पक्षभेदः | १०८-१११ |
| **अनेकान्तवादनिरासः** | ११२-११८ |
| प्रथमपरिशिष्टम् | ११९-१२२ |
| द्वितीयपरिशिष्टम् | १२३ |


Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



# प्राक्कथन

## ( बौद्धन्याय )

प्राचीन भारतीय दर्शनों का प्रज्ञा-प्रकर्ष बौद्धों की दार्शनिक स्थापनाओं एवं उनके आदान-प्रदान से ही संभव हो सका था। इसीलिये भारतीय दर्शनों की गरिमा समझने में बौद्ध विचारों का अपरिचय बहुत बड़ा बाधक है। इधर बौद्ध ग्रन्थों के मिलने से तथा यत्र-तत्र विश्वविद्यालयों में उसके अध्ययन अनुसन्धान आदि के प्रबन्ध होने से यह अपरिचय जैसे-जैसे कम होता जा रहा है वैसे-वैसे भारतीय दर्शनों के गूढ़ तत्त्व को समझने में सहायता मिल रही है। बौद्ध दर्शन के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के समक्ष उसके यथावत् ज्ञान करने में दो प्रकार की विशेष कठिनाइयाँ रहती हैं—एक ओर बौद्ध पारिभाषिक शब्दों से दूसरी ओर अन्य दर्शनों में प्रयुक्त कुछ समान शब्दों का बौद्ध दर्शन में भी प्रयोग होने से। समान दार्शनिक समस्याओं पर विचार करते समय समान शब्दों का प्रयोग करना भारतीय विचारकों के लिये अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता, किन्तु इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह समझने के लिये सचेष्ट रहना होगा कि दर्शनों में समान शब्द समान अभिप्राय को ही नहीं बताते। यह बात बौद्ध दर्शन के लिये विशेष रूप से लागू होती है, क्योंकि शताब्दियों से बौद्ध विचारों से अपरिचय के कारण तथा एक मात्र बौद्धेतर शास्त्रों के ही मनन-लेखन आदि के कारण समान शब्दों में बौद्धेतर संस्कार प्रायः रूढ़ हो चुके हैं। आजकल ही नहीं, पिछली शताब्दियों में कुछ प्राचीन बौद्धेतर आचार्यों के द्वारा भी समान शब्दों के कारण बौद्ध सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कुछ अर्थभ्रान्तियाँ हुई हैं, जिनसे बौद्ध दर्शन के अध्येताओं को सदा बचना होगा।

साधना का विषय यदि छोड़ दें तो दर्शन के क्षेत्र में चाहे प्रमाण-मीमांसा हो या प्रमेय-व्यवस्था, सभी में अन्य प्राचीन दर्शन—सांख्य, वैशेषिक, न्याय, शाब्दिक और मीमांसक आदि से बौद्धों का मौलिक भेद है। दर्शन और न्याय

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



के क्षेत्र में मौलिक अन्तर का कारण बौद्धों का वेद, ईश्वर, आत्मा आदि का विरोध ही नहीं है, प्रत्युत अनित्यता, क्षणभंगता, शून्यता, विज्ञप्तिमात्रता आदि की स्थापना भी है। इन विरोधों और स्थापनाओं को दृष्टि में रख कर ही बौद्ध आचार्यों ने प्रमाण लक्षण और प्रमाण-व्यवस्था आदि की है। इसलिये बौद्ध न्याय के पाठक को बौद्ध दर्शन के इस प्रस्थान-विशेष की ओर विशेष ध्यान रखना होता है। इस प्रसङ्ग में एक बात में और स्पष्टता होनी चाहिये कि बौद्ध न्याय का सही मूल्याङ्कन होना तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक सम्पूर्ण भारतीय न्यायों के बीच उसका विकास-क्रम न देखा जाय। इसके अभाव में लक्षणों में निर्दिष्ट विशेषणों का स्वारस्य जानना कठिन होगा, फिर अन्य दर्शनों से इसका तात्त्विक भेद समझना या उनके साथ बौद्धों का आदान-प्रदान समझना तो सम्भव ही न होगा।

सामान्यत: प्रमाणों की मीमांसा के लिये प्रमेय के सम्बन्ध में वस्तुसत्तावादी होना आवश्यक समझा जाता है। बौद्धेतर दर्शनों में वैशेषिक, गौतमीय, मीमांसक, जैन आदि की प्राय: यही स्थिति है। इस दृष्टि से भी बौद्ध दर्शन में कुछ भिन्नता है। बौद्ध नैयायिक—सर्वास्तिवादी, वैभाषिक और सौत्रान्तिक आदि का वस्तुवाद वैशेषिकादि के समान स्थिर या नित्य नहीं है प्रत्युत क्षणभंगी तथा सर्वथा अनित्य है, तथापि ये लोग वस्तुवादी हैं, किन्तु बौद्ध न्याय का उत्कर्ष तब होता है जब अवस्तुवादी बौद्धों ने इसे अपना क्षेत्र बनाया। इस प्रकार बौद्धों की यह विशेषता है कि वे प्रमेयों की वस्तुसत्ता न स्वीकार करते हुए भी प्रमाणव्यवस्थापन करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रमाणव्यवस्था विशुद्ध रूप से ज्ञान-क्षेत्र की समस्या है, अत: बाह्य-प्रमेय-सत्तावाद इसके उत्कर्ष का बाधक है। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि प्रधान बौद्ध नैयायिक विज्ञानवादी ही हैं, जो बाह्यार्थ को स्वीकार न करते हुए भी ऐसी प्रमाण व्यवस्था करते हैं जो बाह्यार्थवादी को भी सहमत[1] हो। तर्कभाषाकार मोक्षाकर गुप्त भी विज्ञानवादी हैं, प्रमेयद्वय

१. अस्त्येव विदुषां वादो बाह्यं त्वाश्रित्य वर्ण्यते।
द्वैरूप्यं सहसंवित्तिनियमात् तच्च सिध्यति॥ ( प्र. वा. २.३९८ )

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



के आधार पर प्रमाणद्वय की व्यवस्था करते हैं और तदनुरूप ही प्रमाण का लक्षण भी करते हैं। इस प्रकार बौद्ध न्याय को समझने के लिये उन के वस्तुवादी एवं अवस्तुवादी रूप पर तथा प्रमाण चर्चा काल में दोनों पर लागू होने वाले समान लक्षणों पर ध्यान देना होगा।

बौद्धों की प्रमाण पटुता सर्वप्रसिद्ध है। भगवान् बुद्ध के तत्त्वज्ञान के पीछे उसे सर्वजन में प्रचार करने की तीव्र प्रेरणा थी। स्वमत की स्थापना, परमत खण्डन के बिना सम्भव नहीं थी, इसलिये बुद्ध ने स्वयं अपने समसामयिक मतों की खुली आलोचना की और अपने अनुयायियों को इसके लिये प्रेरित किया। पालित्रिपिटक में सर्वत्र ही उनके प्रभावकारी प्रवचन एवं तर्कपूर्ण शैली में वाद करने की विधि परिलक्षित होती है। उदान के आयुसंखारोस्सज्जनसुत्त के (६.१) अनुसार बुद्ध के अतिवृद्ध हो जाने पर एक बार मार ने पुनः आक्रमण किया और कहा कि अब आप आयु संस्कार समाप्त कर निर्वाण लाभ कर लें। उनके उत्तर में बुद्ध ने कहा—'न तावाहं पापिम,परिनिब्बायिस्सामि याव मे भिक्खू··· उप्पन्नं परप्पवादं सहधम्मेन सुनिग्गहितं निग्गहेत्वा सप्पाटिहारियं धम्मं देसेस्सन्ती 'ति' जब तक हमारे भिक्षु तर्क और युक्ति में इतने पटु नहीं हो जावेंगे कि प्रतिपक्षियों द्वारा उठाये प्रश्नों का पूर्ण समाधान कर सकें और अपने सिद्धान्त को स्थापित कर सकें तब तक मैं निर्वाण लाभ नहीं करूँगा। आचार्य धर्मकीर्ति अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक में (१।२८७) बौद्ध प्रमाणमीमांसा का सम्बन्ध बुद्ध वचनों से स्थापित करते हुए कहते हैं कि 'यत्किञ्चिद् उदयधर्मकं तत्सर्वं निरोधधर्मकम्' इत्यादि वचनों द्वारा बुद्ध ने उत्पत्ति एवं निरोध रूप साध्य-साधन के बीच व्याप्ति बता कर अनुमान का प्रयोग प्रदर्शित किया है तथा इससे व्याप्ति का अविनाभावित्व लक्षण स्फुट किया है। धर्मचक्र-प्रवर्तन सूत्र में बुद्ध ने आर्य अष्टाङ्गिक मार्गों में 'सम्यग्दृष्टि' (सम्मादिट्ठि) को सर्व प्रथम एवं सर्व प्रमुख स्थान दिया। सम्पूर्ण बौद्ध न्याय में एक प्रकार से इसी सम्मादिट्ठि का विकास हुआ है। धर्मकीर्ति के अनुसार सभी पुरुषार्थों की सिद्धि, किसी वस्तु का ग्रहण या त्याग सम्यग्दृष्टि से ही सम्भव है। इसलिए सभी बौद्ध एक स्वर से प्रमाण का प्रथम एवं प्रकट लक्षण 'सम्यग् ज्ञान' करते हैं और बाद में उसके सम्यक्त्व की विशद व्याख्या करते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



उपर्युक्त दृष्टि से तर्कभाषा का अध्ययन करने के लिये दो चार विषयों पर यहाँ कुछ चर्चा कर लेना उपयोगी होगा। मोक्षाकर गुप्त ने किसी ज्ञान को प्रमाण होने के लिये दो शर्तें लगाई हैं : ( १ ) ज्ञान को सम्यक् होना चाहिये तथा ( २ ) उस ज्ञान का विषय अपूर्व होना चाहिये। सम्यक्त्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि वह ज्ञान सम्यक् होता है जो अविसंवादी हो। अविसंवादी वह ज्ञान होता है जिससे ज्ञाता को ज्ञान द्वारा बोधित वस्तु मिल जाय। किसी वस्तु के होने में प्रमाण होती है उसकी अर्थक्रियाकारिता। अपने द्वारा सिद्ध होने वाले प्रयोजन को निष्पन्न करा देना किसी वस्तु की अर्थक्रिया है। जल से तृप्ति, अग्नि से ताप होता है, तो वही उनको अर्थक्रिया है और उनकी सत्ता का प्रमाण है। इस प्रकार अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु-सत्ता का लक्षण बन जाता है। किसी एक अर्थक्रिया का स्थान दूसरी अर्थक्रिया नहीं ले सकती, इसी लिये एक वस्तु दूसरी वस्तु से अत्यन्त भिन्न है। इतना ही नहीं कि अर्थ-क्रिया-भेद के कारण घट से पट का भेद होता है अपितु एक रूप में दिखाई देने वाला एक घट भी वस्तुतः एक नहीं है, वह भी भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की निष्पत्ति ( अर्थ क्रिया ) के कारण भिन्न-भिन्न ही है। अर्थक्रिया के कारण ही वस्तु की क्षणिकता निश्चित होती है। इस प्रकार के वस्तु-स्वभाव को ग्रहण करने वाला ज्ञान अविसंवादी ज्ञान होता है। इस प्रकार के अविसंवादित्व के आधार पर ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित होता है।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने भाष्य के प्रारम्भिक वाक्य में स्वसम्मत प्रमाण का प्रयोजन एवं प्रमात्व का लक्षण बताया है "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्ति-सामर्थ्याद् अर्थवत् प्रमाणम्" अर्थात् प्रमाण से अर्थ का निश्चय होता है, अतः जो ज्ञान अर्थवत् होगा और जिसमें अर्थप्राप्ति कराने का सामर्थ्य होगा वह प्रमाण है। इसी संकेत पर बाद में नैयायिकों ने किसी ज्ञान को प्रमा होने के लिये उसमें सफलप्रवृत्तिजनकता या तद्वति तत्प्रकारकत्व को स्वीकार किया। सामान्यदृष्टि से देखने पर बौद्धों और नैयायिकों के उक्त लक्षणों में कोई मौलिक अन्तर प्रतीत नहीं होता क्योंकि सफल प्रवृत्ति सामर्थ्य और अर्थवत्तासे अविसंवादकता का जल्दी भेद नहीं हो पाता, किन्तु थोड़ा विवेचन करने पर वह स्पष्ट होने लगता है। अविसंवादक शब्द भी इसको कुछ स्पष्ट करता है। संवाद=जैसा अर्थ वैसा ज्ञान,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



विसंवाद=जैसा अर्थ वैसा ज्ञान नहीं; अविसंवाद=जिसमें विसंवाद न हो; यहाँ ध्यान देने की बात है कि बौद्धदृष्टि में अविसंवाद संवाद नहीं है, प्रत्युत विसंवाद का अभाव है। इसका बौद्ध अभिप्राय यह निकलता है कि ज्ञान का अर्थ के साथ संवाद होता है या नहीं; यह किसी ज्ञान के प्रमा होने के लिये इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि दोनों में विसंवाद का न होना। बौद्ध क्षणभङ्गवादी हैं, अतः उनकी दृष्टि में किसी वस्तु की सत्ता का अर्थ है—उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका विनाश, क्योंकि उन के मत में सत् होने के कारण उत्पत्ति सहेतुक और असत् होने के कारण विनाश अहेतुक होता हैं। उत्पत्त्यनन्तर विनाश को वह 'क्षण' शब्द से कहते हैं, और उसी अर्थ में क्षणिक शब्द का भी प्रयोग करते हैं। वस्तु-स्वभाव के इस विश्लेषण से एक निष्कर्ष फलित होता है कि ज्ञान जिस वस्तु का ग्रहण करता है उसी का वह निश्चय नहीं करता और न तो उसे प्राप्त ही करता है, क्योंकि वस्तु क्षणिक होने के कारण देखने के साथ ही उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुकती है। ऐसी दशा में प्रश्न होता है कि क्या जो देखा जाता है वह प्राप्त नहीं किया जाता ? बौद्धों का उत्तर है कि अवश्य ही दूसरा देखा जाता है और दूसरा प्राप्त किया जाता है। सत्य तो यह है कि ज्ञान जिसे देखता है उसी का निश्चय नहीं करता, अन्य को देखता है और अन्य का निश्चय करता है। प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में तो ज्ञान पर से विश्वास ही उठ जायेगा, उसका प्रभाव होना तो दूर रहा। इस पर बौद्धों का उत्तर है कि वस्तुतः ज्ञान और प्राप्त वस्तु एक नहीं होती किन्तु निरन्तर भिन्न भिन्न सजातीय वस्तुक्षणों की उत्पत्ति के कारण "यह वही है जिसे हमने देखा है" इस प्रकार भिन्नों में नैरन्तर्य के कारण एकत्व निश्चय होता है। इस प्रकार व्यक्ति को निश्चित बोध होता है कि जिसे हमने देखा उसे ही प्राप्त किया। इस प्रकार के एकत्वाध्यवसाय से ही किसी ज्ञान का प्रामाण्य या सम्यक्त्व निश्चित होता है और इसी से सभी व्यवहार प्रामाणिक बनते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि किसी ज्ञान को प्रमाण होने के लिये अर्थ के साथ विसंवादमात्र नहीं होना चाहिये। ज्ञान का अर्थ के साथ संवाद होता है तो केवल इस अर्थ में कि ज्ञान अर्थ को ग्रहण करता है। इस अर्थ में नहीं कि वह गृहीत अर्थ का निश्चय भी करता है। इस संक्षिप्त विश्लेषण से ज्ञान के प्रमाण होने के लिये बौद्धों के दो प्रतिबन्धों 'अविसंवादित्व' तथा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



'अपूर्वगोचरत्व' का स्पष्टीकरण हो जाता है। क्षणभंगवाद में प्रत्येक प्रमाण ज्ञान अपूर्व विषय का ग्रहण करता है जो पहले से ज्ञात नहीं है। इसलिये जो ज्ञान पहले से ज्ञात अर्थ का ज्ञापन करेगा वह कथमपि प्रमाण नहीं हो सकेगा। इस दृष्टि से स्थिर वस्तुवादी नैयायिकों का प्रमाण-लक्षण बौद्धों से अत्यन्त विपरीत हो जाता है क्योंकि स्थिर वस्तुवाद में ही तत् में तत्प्रकारक ज्ञान संभव हो सकता है जब कि बौद्धों की क्षणिकता की दृष्टि से वस्तुतः अतत् में ही तत् का निश्चय होता है। 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' या 'सफल प्रवृत्तिजनकता' के कारण ज्ञात होता है कि प्रमा को 'प्रवर्त्तक' अवश्य होना चाहिये। बौद्ध प्रवृत्ति या प्राप्ति को ज्ञान के क्षेत्र से बाहर का मानते हैं। ज्ञान प्रवर्तक हो या नहीं, प्रवृत्ति सफल हो या नहीं; इससे प्रमाण का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। किसी विषय के ज्ञान होने के अनन्तर किसी कारण से कोई प्रवृत्त हो अथवा नहीं, प्रवृत्त होकर भी किसी कारण से सफल हो अथवा नहीं वह ज्ञान अपने में यथार्थ हो सकता है। ज्ञान के प्रामाण्य के प्रसङ्ग में जब बौद्ध उसके प्रवर्तक होने या अर्थ-प्रापक होने की चर्चा करते हैं तो उसका अभिप्राय विशेष बोध या अधिगति से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार किसी ज्ञान को प्रमाण होने के लिये अविसंवादी होना आवश्यक है, अविसंवादित्व की कसौटी अर्थक्रियाकारित्व है, अर्थक्रियाकारित्व ज्ञेय का स्वरूपावबोध मात्र है। यही प्रमा की प्रवर्तकता या प्रापकता है। इस प्रकार अर्थवत्ता सामान्यतया प्रमात्व या सम्यग्ज्ञान के लिये आवश्यक है किन्तु बौद्ध और नैयायिकों में अर्थ के स्वरूप, उसके ग्रहण और निश्चय के प्रकार में अन्तर होने के कारण दोनों में अनेक प्रकार के भेद हो जाते हैं।

बौद्धमत में ज्ञेयस्वरूपावबोध ही जब अर्थक्रियाकारित्व है और उसके आधार पर ही ज्ञान का अविसंवादित्व या सम्यक्त्व निश्चित होना है तब प्रश्न होता है कि क्या बौद्धमत में सभी ज्ञान अपनी उत्पत्ति के साधनों के आधार पर स्वतः ही प्रमाण हो जाते हैं, या उसके लिये स्वातिरिक्त साधनों की अपेक्षा होती है? इस सम्बन्ध में प्राचीन दार्शनिकों में मीमांसक एवं किसी अर्थ में सांख्य को छोड़कर प्रायः सभी परतः प्रामाण्यवादी हैं जो प्रमाणगत प्रामाण्य के निश्चय के लिए स्वातिरिक्त साधनों को आवश्यक समझते हैं। बौद्ध गौतमीय

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



नैयायिकों और कुमारिल आदि की तरह ज्ञान को परवेद्य नहीं मानते प्रत्युत स्वसंविदित मानते हैं। स्वसंविदित मान कर भी उसके प्रामाण्य के सम्बन्ध में स्वतस्त्व से बंधे नहीं है। इस सम्बन्ध में बौद्ध अनियतवादी हैं। किसी विषय के सम्बन्ध में यदि पहले से ज्ञाता को अभ्यास है जैसा कि जोहरी को विभिन्न मणियों की पहचान में; ऐसी अवस्था में प्रमाण में प्रामाण्य स्वतः आ जाता है, किन्तु अनभ्यस्त दशा में प्रामाण्य सन्दिग्ध रहता है इसलिये वहाँ स्वातिरिक्त अर्थ-क्रियाज्ञान अथवा अनुमान की अपेक्षा होगी। जिस प्रकार सम्यग् ज्ञान या प्रमात्व के सम्बन्ध में उसी प्रकार प्रमाणों की संख्या, उनके विषय, उनके लक्षण और प्रमाण फल आदि के सम्बन्ध में भी अन्य दार्शनिकों से बौद्धों का मतभेद है। इन विषयों का किंचित् विहगावलोकन कर लेना चाहिए।

## प्रमाण-संख्या

बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान केवल दो प्रमाण मानते हैं जबकि लोकायतिक केवल प्रत्यक्ष, सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, प्राचीन वैशेषिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आर्ष ( शब्द ), गौतमीय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, मीमांसकों में प्रभाकर चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति तथा कुमारिल उसके बाद भी अनुपलब्धि जोड़कर छः प्रमाण बताते हैं। अन्य वादियों में परस्पर भेद के अनेक कारण हैं किन्तु बौद्धों से इन सभी लोगों का जो मौलिक अन्तर है वह प्रायः समान ही है।

'मानाधीना मेयसिद्धिः' प्रमेयों का निर्धारण प्रमाणों के अधीन होता है—यह सिद्धान्त बौद्ध बौद्धेतर प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं, किन्तु बौद्ध आचार्य प्रमेयों के आधार पर प्रमाणों को भी नियन्त्रित करने के पक्ष में हैं। इस प्रकार उनके मत में 'मेयाधीना मानसिद्धिः' का सिद्धान्त भी मान्य हो जाता है। बौद्धमत में प्रमाण के विषय दो प्रकार के हैं—( १ ) स्वलक्षण, तथा ( २ ) सामान्य लक्षण। जब दो ही विषय हैं तो उनके ग्राहक प्रमाण भी दो ही होने चाहिये। स्वलक्षण को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष तथा सामान्य लक्षण को ग्रहण करने वाला अनुमान। नैयायिक और मीमांसकादि की तरह बौद्ध सामान्य-विशेषात्मक कोई एक पदार्थ नहीं मानते, क्योंकि वे सामान्य और विशेष को परस्पर में अत्यन्त विरोधी मानते हैं। इसलिये वे किसी तरह उनकी एकात्मता

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



ीकार नहीं करते। नैयायिकादि प्रमाणों की संख्या और विषय के सम्बन्ध में ई व्यवस्था नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्यक्ष विशेष को ही ग्रहण नहीं मान्य को भी ग्रहण करता है और इसी प्रकार अनुमान भी विशेष और सामान्य नों का ग्रहण करता है। इतना ही नहीं उनके मत में किसी एक विषय को नेक प्रमाण ग्रहण करते हैं और विषय अनेक प्रमाणों द्वारा ज्ञात होते हैं। द्ध किसी प्रकार के साङ्कर्य के पक्षपाती नहीं हैं। प्रमाण अपने निश्चित प्रमेय ो ही ग्रहण करता है और एक प्रमेय के अनेक प्रमाण ग्राहक नहीं हो सकते। द्धों के अनुसार यदि प्रमाण-सांकर्य और प्रमेय-सांकर्य माना जाय तो प्रमाण-ख्य व्यवस्था नहीं बन सकती और प्रत्येक प्रमाण की अनिवार्यता नहीं रह ेगी। इस प्रकार प्रमाण संख्या के सम्बन्ध में नैयायिकादि विप्लवादी या कर्यवादी हैं तथा बौद्ध व्यवस्थावादी।

## प्रमाणों का विषय

पहले कहा गया है कि नैयायिक मीमांसकादि सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ र उनका प्रत्यक्ष अनुमान द्वारा ग्रहण मानते हैं, जबकि बौद्ध स्वलक्षण और मान्य लक्षण दो ही विषय और उनके ग्राहक क्रमश: प्रत्यक्ष और अनुमान को मानते हैं। स्वलक्षण का अर्थ है—स्व = असाधारण, लक्षण = तत्त्व या रूप, अर्थात् वस्तु का असाधारण स्वरूप या एकमात्र विशेष। सामान्य लक्षण अर्थ है—सामान्य = साधारण या समारोपित, लक्षण = तत्त्व या स्वरूप। षय के दो ही प्रकार हो सकते हैं, सदृश और असदृश। स्वलक्षण वस्तु का सदृश तत्त्व है क्योंकि वह सर्वतो व्यावृत्त होकर केवल स्वनिष्ठ होता है। अन्य ादि साधारण होने से सामान्य सदृश होता है। इसीलिये स्वलक्षण कथमपि ब्द द्वारा बोधित नहीं हो सकता, जबकि सामान्य शब्द विषय बनता है। लक्षण अपनी उपस्थिति-अनुपस्थिति से ज्ञान-प्रतिभास में भेद उत्पन्न करता । सामान्य आरोपित होता है, इसलिये उसके सन्निधान-असन्निधान से न तो न-प्रतिभास में भेद उत्पन्न होता है और न उसके कारण ज्ञान में स्फुटता अस्फुटता ही आती है। सौत्रान्तिकों के मत में स्वलक्षण की परमार्थसत्ता मानी ती है और सामान्य लक्षण की सांवृतिक या काल्पनिक। स्वलक्षण की पर-

२९५४३
पु.न 21573
Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



मार्यसत्ता इस अर्थ में है कि वह अर्थक्रिया में समर्थ होता है अर्थात् उसके कारण ज्ञान को स्पष्ट आकार मिलता है। सामान्य अर्थक्रिया में अशक्त इसलिये होता है कि वह विध्यात्मक रूप से नहीं प्रत्युत इतरव्यावृत्त के माध्यम से कल्पित संकेत द्वारा वस्तु का निश्चय कराता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि सामान्य अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है, तो यही स्थिति द्विचन्द्र दर्शन, पीत-शंख दर्शन आदि भ्रम ज्ञानों की भी है; तो क्या द्विचन्द्रादि की सामान्य सत्ता मान्य है? उसके उत्तर में बौद्ध कहते हैं कि हम अर्थक्रिया की शक्तता अशकता के आधार पर वस्तु का स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण के रूप में विभाजन करते हैं। भ्रम विषय में तो जब अर्थ-बुद्धि ही नहीं होती तो उसे सामान्य होने का अवसर ही कहाँ है।

पहले कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु के दो तत्त्व होते हैं एक असाधारण दूसरा साधारण, साथ ही यह भी कहा गया है कि इन्हें क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान ही पृथक्-पृथक् रूप में ग्रहण करते हैं। इस मान्यता में एक भ्रम होने की संभावना है कि जब प्रत्येक वस्तु के दो तत्त्व हैं तो प्रत्येक प्रमाण उन दोनों को ग्रहण क्यों नहीं करेंगे? स्थिति स्पष्ट है प्रमाण का एक ग्राह्य विषय होता है और दूसरा अध्यवसेय ग्राह्य और अध्यवसेय सर्वथा भिन्न-भिन्न होते हैं। ग्राह्य सदा स्वलक्षण होता है और अध्यवसेय सदा सामान्य लक्षण। प्रत्यक्ष का ग्राह्य घट स्वलक्षण है, उसके अनन्तर एक बौद्धिक विकल्प होता है जिससे वह घट स्वभिन्न सकल वस्तुओं से व्यावृत्त किया जाता है, यह व्यावृत्ति ही सामान्य है जिस के आधार पर यह निश्चय होता है कि यह निश्चयेन घट है। इस व्यावृत्ति से वस्तु ही व्यावृत्त की जा सकती है, कभी भी अवस्तु व्यावृत्त नहीं होगी, इसलिये सामान्य व्यावृत्तिरूप है किन्तु अवस्तु नहीं है, यद्यपि स्वलक्षण की तरह परमार्थसत् वस्तु भी नहीं है कि वह प्रमाणों का ग्राह्य बन सके। प्रत्यक्ष की तरह अनुमान के भी ग्राह्य और अध्यवसेय दो भिन्न विषय होते है। प्रत्यक्ष और इसकी ग्राह्यता में अन्तर केवल इतना ही है कि प्रत्यक्ष का दृश्य साक्षात् एवं स्फुट होता है किन्तु अनुमान का ग्राह्य आरोपित होने के कारण दृश्यत्वेन कल्पित होता है, अनन्तर इतरव्यावृत्ति के माध्यम से व्याप्ति द्वारा अदृश्य प्राप्य का निश्चय होता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



# प्रत्यक्ष और अनुमान

प्रत्यक्ष शब्द का बौद्ध सम्मत अर्थ है—अर्थ साक्षात्कार। नैयायिकादि दार्शनिकों ने अक्षाश्रित ज्ञान के अर्थ में प्रत्यक्ष का प्रयोग किया है। इसी लिए उन लोगों ने प्रत्यक्ष का लक्षण इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्य ज्ञान किया। अर्थ साक्षात्कार अर्थ करने के कारण बौद्धों ने इन्द्रिय विज्ञान के अतिरिक्त अन्यविध प्रत्यक्ष के प्रकार—स्वसंवेदन, मानस और योगिज्ञान को भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत किया। परवर्ती नैयायिकों को भी मानस एवं योगिज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानना पड़ा, किन्तु न्याय दर्शन के प्रत्यक्ष सूत्र में इसका उल्लेख न रहने के कारण भाष्यकार, वार्तिककार और तात्पर्यटीकाकार को अनेकधा व्याख्यानान्तर करना पड़ा। बौद्ध सम्मत उपर्युक्त चतुर्विध ज्ञानों का संग्रह करने वाला एक प्रत्यक्ष लक्षण है—कल्पनापोडमभ्रान्तम् प्रत्यक्षम्। प्रत्यक्ष ज्ञान को कल्पनास्वभाव-रहित होना चाहिये और उसे अर्थक्रियाक्षम वस्तु में किसी प्रकार विपर्यस्त या भ्रान्त नहीं होना चाहिये। कल्पनाराहित्य ही बौद्धों के प्रत्यक्ष लक्षण का हृदय है। कल्पना है—वाचक शब्द से वाच्य अर्थ का सम्बध हो जाना। यदि एक ज्ञान में अभिधेय वस्तु के आकार के साथ अभिधान ( वाचक शब्द ) का आकार मिल जाय तो उसे कल्पना ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान को इस प्रकार की कल्पना से रहित होना चाहिये। यहाँ तक कि उसमें कल्पना होने की संभावना या योग्यता भी नहीं रहनी चाहिये। इस प्रकार बौद्ध मत में निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही मान्य है। वैयाकरण तथा चार्वाक प्रत्यक्ष को सविकल्पक ही मानते हैं। नैयायिक और मीमांसक निर्विकल्पक सविकल्पक दोनों मानते हैं। स्थिरवस्तुवाद में जिस वस्तु का निर्विकल्प ज्ञान उसी का सविकल्पक ज्ञान हो सकता है किन्तु बौद्धों के क्षणभङ्ग वाद में यह कथमपि संभव नहीं है। बौद्ध मत में भी एक प्रकार का सविकल्प होता है जिसे प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प कहते हैं, उससे प्रत्यक्ष स्थल में वस्तु का निश्चय होता है, किन्तु यह नैयायिकादि के सविकल्पक प्रत्यक्ष से सर्वथा भिन्न है।

अनुमान ज्ञान लिङ्ग ( हेतु ) ग्रहण और साध्य-साधन के सम्बन्धस्मरण

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



(व्याप्ति ज्ञान ) के पश्चात् होता है। धूम का पर्वत में (पक्ष-धर्म) ग्रहण और साध्य-साधन के सम्बन्ध स्मरण के पश्चात् इस मान के होने से इसे अनुमान कहते है। अनुमान के दो भेद हैं स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक और परार्थानुमान शब्दात्मक होता है। अनुमान का स्वार्थ परार्थ भेद बौद्धों के अनुकरण के आधार पर बाद में नैयायिकों में भी प्रचलित हुआ। मीमांसक अनुमान को दुर्बल एवं प्रत्यक्ष को प्रबल प्रमाण मानते हैं, इसीलिये बौद्धेतर प्रायः सभी दार्शनिक प्रत्यक्षविरोध में अनुमान से अर्थ निश्चय नहीं मानते। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान को तुल्यबल मानते हैं क्योंकि दोनों ही समान रूप से अर्थाविनाभावी होते हैं और अर्थ प्राप्त कराते हैं। इस सम्बन्ध में यह बौद्ध मत स्पष्ट ही है कि दोनों प्रमाणों का विषय अत्यन्त भिन्न है, अतः अपने अपने क्षेत्र में दोनों प्रबल हैं। अनुमान के लिये हेतु एवं व्याप्ति ज्ञान का सर्वोपरि महत्त्व है। हेतु तीन प्रकार के होते हैं—कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि। इनमें कार्य और स्वभाव विध्यात्मक या विधि हेतु हैं और अनुपलब्धि निषेध हेतु है। नैयायिकों के समान अभाव को पदार्थ मानना तथा उसके ग्रहण के लिये विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष स्वीकार कर उसका प्रत्यक्ष मानना, मीमांसकों के समान अभाव ज्ञान के लिये अनुपलब्धि को अतिरिक्त प्रमाण मान लेना बौद्धों को सम्मत नहीं है। बौद्ध लोग अभाव की सत्ता स्वीकार करना अदार्शनिकता मानते हैं, केवल अभावप्रतीति का निश्चय अनुपलब्धि हेतु के द्वारा अनुमान से करते हैं।

अनुमान के लिये तीन ही हेतु क्यों स्वीकार किये जाते हैं? इसके उत्तर में बौद्ध नैयायिक स्वभावप्रतिबन्धतारूप व्याप्ति का नियम प्रस्तुत करते हैं। उनके मत में साधन साध्य को तभी निश्चित कर सकता है, जब दोनों के बीच स्वभावप्रतिबद्धता या प्रतिबद्धस्वभावता हो। हेतु साध्य के साथ स्वभावप्रतिबद्ध जिन दो स्थितियों में होता है वे हैं—तादात्म्य या तदुत्पत्ति। या तो साध्य का स्वभाव ही हेतु का स्वभाव हो अर्थात् उन दोनों का अभेद या तादात्म्य हो, या तो साध्य से हेतु की उत्पत्ति हो। यहाँ एक शंका हो सकती है कि साधन यदि साध्य स्वभाव ही हो जायगा तो वह साध्य का एक देश ही होगा इस स्थिति में उस साधन से साध्य की सिद्धि का क्या अर्थ होगा? इसके उत्तर में बौद्ध लोग कहते हैं कि तादात्म्य

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



स्थल में पारमार्थिक रूप से साध्य साधन का अभेद ही रहता है किन्तु उनमें विकल्पकृत भेद भी माना जाता है, और उसी के आधार पर साध्य साधन में भेदगर्भित गम्यगमकभाव बनता है। इस प्रकार निश्चयारूढ़ रूपों की अपेक्षा से भेद किन्तु वास्तविक अभेद माना जाता है। तदुत्पत्ति तो दो भिन्नों में मानी ही जाती है। इस प्रकार लिङ्ग यदि साध्य से उत्पन्न है तो भी साध्य और साधन में स्वभावप्रतिबन्ध निर्बाध रूप से बनता है। इस प्रकार तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति के आधार पर अविनाभाव रूप व्याप्ति सिद्ध होती है। बौद्ध लोग इसी अनिवार्य एवं अव्यभिचरित नियम के आधार पर दो विधि हेतु और एक निषेध हेतु स्वीकार करते हैं।

## प्रमाण-लक्षण

प्रत्यक्ष अनुमान दोनों पर लागू होने वाला प्रमाण लक्षण है—अर्थसारूप्य। अर्थ के साथ ज्ञान का जो सादृश्य होता है, वही प्रमाण है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस विषय से जो ज्ञान उत्पन्न है वह उस विषय के सदृश होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान का अर्थ हुआ विषय के आकार के समान ज्ञान का उत्पन्न होना। प्रत्यक्ष से जब नील सादृश्य अनुभूत होता है तब 'यह नील है' इस प्रकार का ज्ञान व्यवस्थापित होता है। अनुमान ज्ञान भी नीलाकार उत्पन्न होकर नील-बोध निश्चित करता है। इस सारूप्यलक्षण प्रमाण से यह भी सिद्ध होता है कि बुद्धि हो प्रमाण है, इन्द्रियादि प्रमाण नहीं है जैसा कि नैयायिकादि स्वीकार करते हैं। बौद्ध कहते हैं कि हेय या उपादेय वस्तु के त्याग या ग्रहण करने का अतिशय साधक ज्ञान ही है, अतः वही प्रमाण है। इन्द्रिय के रहते हुए भी प्रवृत्ति नहीं होती यदि तद्विषयक बुद्धि न हो। यह ठीक है कि प्रत्येक अर्थ और प्रत्येक इन्द्रिय के भेद से ज्ञान का भेद होता है तथापि विषय सारूप्य के बिना तो ज्ञानविशेष निर्दिष्ट ही नहीं हो सकता।

## प्रमाण-फल

ऊपर कहा गया है कि अर्थसारूप्य के कारण कोई ज्ञान प्रमाण होता है, और यह अर्थसारूप्य ही उसके अविसंवादित्व को सुरक्षित रखता है। प्रश्न होता

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



है कि सारूप्यबुद्धि जब प्रमा का करण है तो उससे भिन्न उसका फल क्या है ? नयायिकादि दार्शनिक प्रमाण से प्रमाण-फल को भिन्न मानते हैं, क्योंकि फल करण से साध्य होता है, अतः उसे करण से भिन्न होना चाहिये। नैयायिक करण, व्यापार और फल तीनों को क्रमवर्ती और भिन्न-भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार कुठार, उससे होने वाला व्यापार और उससे उत्पन्न फल यानी द्विधाभाव ( कट जाना ) सभी भिन्न-भिन्न हैं। बौद्ध ज्ञान को ही प्रमाण और उसे ही फल मानते हैं। बौद्ध कहते हैं कि कुठार और उससे उत्पन्न छिदा में कार्य-कारण भाव विशेष है किन्तु प्रमाण और प्रमाण फल ज्ञान क्षेत्र की बात है, इसमें कार्य कारण भाव की जगह व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव स्वीकार करना चाहिये। व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव अज्ञात रह कर चरितार्थ नहीं हो सकते। व्यवस्थापक या व्यवस्थापन हेतु नीलसारूप्य है और व्यवस्थाप्य नीलसंवेदन है। नील सादृश्य का अनुभव करके ज्ञान नील का ग्राहक बनता है इस प्रकार अनुभूत नील-सारूप्य व्यवस्थापक है और उससे नील संवेदन रूप जो ज्ञान व्यवस्थापित होता है वह व्यवस्थाप्य है। इस प्रकार एक ही ज्ञान का एक रूप व्यवस्थापक एवं दूसरा रूप व्यवस्थाप्य हो तो कोई विरोध नहीं आता। शब्द-संकेत के आधार पर यदि कहें तो सारूप्य असारूप्यों से व्यावृत्त होकर ज्ञान का व्यवस्थापक होता है और अनील बोध से व्यावृत्त होकर नीलबोध व्यवस्थाप्य होता है।

प्रमाण का यह लक्षण बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों में समान रूप से लागू होता है। बाह्यार्थवाद में बाह्य ग्राह्याकार ही सारूप्य है, वह अपने ज्ञान को अर्थज्ञान के अनुरूप करता है अतः वह अर्थाविसंवादी होने के कारण प्रमाण होता है और बाह्यार्थ प्रमेय होता है। विज्ञानवाद में यह और भी स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि वहाँ ग्राह्याकारता बुद्धि का ही परिच्छेद है, उसी के कारण अन्य-व्यावृत्त होकर वस्तुविशेष का परिच्छेद होता है, और परिच्छेद ही ज्ञान का फलरूप आत्मवेदन है। इस प्रकार जब परिच्छेद से ही आत्मवेदन व्यवस्थित होता है, तब वह अवश्य फलभूत आत्मवेदन का साधन एवं प्रमाण मान लिया जायगा।

इस प्राक्कथन में बौद्ध न्याय के प्रारम्भिक अध्येता को ध्यान में रख कर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



कुछ अतिस्थूल विषयों पर अतिसंक्षिप्त रूप में विवेचन किया गया है। इससे उन्हें अन्य भारतीय न्यायों के बीच बौद्ध न्याय की स्थिति का अंदाज लगेगा तथा बौद्ध न्याय के प्रति अपरिचय-जन्य उदासीनता भी कम होगी। इस समय मोक्षाकार गुप्त की तर्क भाषा ही एक ऐसा छोटा उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें स्वमत के स्थापन के साथ साथ परमत के सम्बन्ध में कुछ आलोचना है उपलब्ध पुस्तकों में धर्मकीर्ति का हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु आदि छोटे अवश्य हैं किन्तु प्रकरण ग्रन्थ होने के कारण उनमें केवल न्यायांश पर ही विचार किया गया है। तर्कभाषा का भी मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण मीमांसा है, उसे समझने के लिये उपलब्ध पुस्तकों में न्यायबिन्दु, उसकी धर्मोत्तर टीका तथा उस पर दुर्वेक मिश्र की धर्मोत्तर प्रदीप टीका से सहायता लेनी चाहिये।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

जगन्नाथ उपाध्याय
२०।११।६८

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

## संकेतविवरणम्

तत्वसंग्रह = ( तसं० )

न्यायविन्दु = ( न्यावि० )

प्रमाणवार्तिक = ( प्रवा० )

प्रमाणवार्तिकवृत्ति = ( प्रवावृ० )

वाक्यपदीय = ( वा० )

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि = ( विज्ञि० )

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

# बौद्ध-तर्कभाषा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

# बौद्ध तर्कभाषा

## मङ्गलाचरणम्

गुरुं प्रणम्य लोकेशं शिशूनामल्पमेधसाम् ।
धर्मकीर्तिमतश्रुत्यै तर्कभाषा प्रकाश्यते ॥

## प्रमाणसामान्यलक्षणम्

इह खलु प्रेक्षापूर्वकारिणोऽर्थिजनास्सर्वपुरुषार्थसिद्धिनिमित्तं प्रमाणमनुसरन्तीति प्रमाणमादौ व्युत्पाद्यते ।

प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम् । प्रमीयतेऽर्थोऽनेनेति प्रमाणम् ।

---

## मंगलाचरण

गुरु और लोकेश ( बुद्ध ) को प्रणाम कर अल्पबुद्धि वाले बालकों को धर्मकीर्ति का मत बतलाने के लिये तर्कभाषा प्रकाशित किया जा रहा है।

## प्रमाण सामान्य लक्षण

निश्चय ही, विचारपूर्वक कार्य करनेवाले तथा किसी लक्ष्य को चाहने वाले लोग सभी पुरुषार्थों की सिद्धि के निमित्त प्रमाण का अनुसरण करते हैं इसलिये सर्वप्रथम प्रमाण का प्रतिपादन किया जाता है।

अपूर्व विषयक सम्यक् ज्ञान अर्थात् वह यथार्थ ज्ञान जिसका विषय पूर्व में ज्ञात न हो, प्रमाण कहलाता है। जिसके द्वारा किसी विषय को भली भाँति

क्र.न. 29563 / 21673

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



तदेव सम्यग्ज्ञानम्, सन्देहविपर्यासदोषरहितत्वात् । अविसंवादकं ज्ञानं लोके सम्यग्ज्ञानमभिधीयते । न च संशयविपर्यासज्ञानयोरविसंवादकत्वमस्ति । यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेतिज्ञानस्य, मरीचिकासु वा जलज्ञानस्य । अपूर्वो गोचरो अस्येत्यपूर्वगोचरम् । गोचरो विषयो घटादिः । तस्मादुत्पन्नं तदर्थप्रापणयोग्यं ज्ञानं प्रमाणम् ॥

ननु ज्ञानं कर्तृ पुरुषं प्रयोज्यमर्थं कर्मभूतं यदि कदाचिन्न प्रापयति तत्कथमप्रापकत्वात् प्रमाणं स्यात् ? उच्यते । न हि ज्ञानेन पुरुषो

---

जाना जाय उसे प्रमाण कहते हैं । संदेह और विपर्यास दोष से रहित होने के कारण उसे ही यथार्थ ज्ञान कहा जाता है । जो ज्ञान अविसंवादक ( विषय-संगत ) होता है उसे व्यवहार में यथार्थ ज्ञान कहा जाता है । संशय और विपर्यास ज्ञान विषय संगत नहीं होते हैं । जैसे यह स्थाणु है या पुरुष ( इस सन्देहात्मक ज्ञान में एक ही विषय के सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध दो धारणायें रहती हैं अतः इस ज्ञान को विषय संगत नहीं कहा जा सकता ) और मरीचिका में जल का ज्ञान ( विपर्यय या विपर्यास ज्ञान है इसमें विषय मरीचिका अर्थात् सूर्य की किरणें हैं और ज्ञान जल का होता है, अतः यह भी विषय संगत नहीं है ) । जिसका गोचर ( विषय ) अपूर्व ( पूर्व में अज्ञात ) हो उसे अपूर्व-गोचर कहा जाता है । गोचर का तात्पर्य है घट इत्यादि विषय ( जिन का ज्ञान होता है ) । उस घटादि विषय से उत्पन्न एवम् उन अर्थ को प्राप्त कराने योग्य ज्ञान प्रमाण है ।

ज्ञान रूप कर्त्ता प्रयोज्य रूप पुरुष को कर्मभूत विषय को यदि कदाचित् प्राप्त न कराये तो अप्रापक ( प्राप्त न करने वाला ) होने के कारण ज्ञान प्रमाण कैसे हो सकेगा ? ( इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में ) कहा जाता है । ज्ञान

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



गले पादुकान्यायेन बलादर्थे प्रवर्तयितव्यः । अपि त्वेवंभतमिदं वस्तुस्वरूपं नान्यथेत्यनेनाकारेण निश्चयो जनयितव्यः । स चेत्तेन कृतः, एतावतैवास्य प्रामाण्यमविरुद्धम् । पुरुषस्तु तत्र प्रयोजनवशात् प्रवर्ततामृते प्रयोजनं न प्रवर्तताम्, अर्थो वा योगिपिशाचादिभिरपह्रियताम् । ज्ञानस्य किमायातम् ? ॥

नन्वविसंवादकत्वेन ज्ञानस्य प्रामाण्यम् । अविसंवादकत्वं च दृष्टार्थप्रापणात् । न च यद्दृष्टं तत्प्राप्यते, क्षणिकत्वात् । किंच रूपं दृष्टं, प्राप्यते च स्प्रष्टव्यम् । ततोऽन्यद्दृष्टमन्यत् प्राप्यत इत्यप्रतीतप्रापणात् कथं प्रामाण्यमस्य संगच्छताम् । न । यदि नाम वस्तुतोऽन्यदेव प्राप्यते तथापि दृष्टमेव मया प्राप्तमित्येकत्वाध्यवसा-

---

मनुष्य को गले में बंधी पादुका के समान हठात् किसी विषय की ओर प्रवृत्त नहीं कराता है । किन्तु इस वस्तु का स्वरूप इस प्रकार का है किसी अन्य प्रकार का नहीं, ऐसा निश्चय उत्पन्न करता है । यदि वह इतना कर देता है तो वहीं उसकी प्रामाणिकता है । इसमें कोई विरोध नहीं है । मनुष्य वहाँ अपने प्रयोजनवश प्रवृत्त हो सकता है और प्रयोजन के न रहने पर प्रवृत्त नहीं भी हो सकता । यदि योगी या पिशाच के द्वारा अर्थ का अपहरण कर लिया जाय तो भी ज्ञान का इससे क्या बनता बिगड़ता है ।

यदि यह कहा जाय कि विषय संगत होने के कारण ही ज्ञान की प्रमाणिकता है । और विषय संगत होने का अर्थ दृष्ट वस्तु को प्राप्त करना है (तो यह कथन उचित नहीं होगा) क्योंकि विषय के क्षणिक होने के कारण यह कथन कि 'जो दीख पड़ता है वही प्राप्त होता है', संगत नहीं है। इसके अतिरिक्त रूप दीख पड़ता, स्पर्श करने योग्य प्राप्त होता है । इससे तो यही प्रतीत होता है कि दूसरा दीख पड़ता है और दूसरा ही प्राप्त होता है । इस प्रकार अज्ञात को प्राप्त कराने के कारण ज्ञान की प्रामाणिकता का निर्वाह कैसे किया जा सकता है ? यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि यद्यपि वास्तव में अन्य वस्तु की ही प्राप्ति होती है फिर भी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



यात् प्रतीतप्रापणमभिधीयते। यत्तु मरीचिकादिजलज्ञानं तदप्रापणयोग्यत्वादप्रमाणमेव ॥

नन्विदं प्रापणयोग्यमिदं नेत्यर्थक्रियाप्राप्तिमन्तरेण निश्चेतुमशक्यम्। ज्ञानोत्पत्तिमात्रेण तु न भ्रान्ताभ्रान्तयोर्भेदोऽवधार्यते। ततश्च कथं तत्सम्यग्ज्ञानमिति चेत्। नैष दोषः। यद्यपि ज्ञानमात्रोदयाद्वैशिष्ट्यमनयोरवधारयितुं न शक्यते। तथापि ज्ञानविशेषोदयाद्यथैकस्य वैशिष्ट्यं तथोच्यते। तथा हि-यदि नाम मन्दबुद्धिरुत्पत्तिवशादविसंवादकत्वं ज्ञानस्य नावधारयितुं समर्थः, तथापि दाहपाकावगाहनस्नानपानोन्मज्जनाद्यर्थक्रियां दूरतोऽनुभवतो नरस्य दर्शनेनोच्चलद्धूमादिदर्शनेन चावधारयति। अमन्दबुद्धिस्तु पटुतरप्रत्य-

---

निश्चय यही होता है कि मैंने दृष्ट वस्तु को ही प्राप्त किया है इसीलिए ज्ञान को ज्ञात को प्राप्त कराने वाला कहा जाता है। जहाँ तक मरु-मरीचिका में जल-ज्ञान का प्रश्न है वहाँ वह ज्ञान विषय को प्राप्त कराने में अयोग्य है अतः वह अप्रामाणिक ही है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या प्राप्त करने योग्य है और क्या प्राप्त करने योग्य नहीं है? क्रिया द्वारा अर्थ की प्राप्ति किये बिना यह निश्चय करना संभव नहीं। ज्ञान की उत्पत्ति मात्र से भ्रान्त और अभ्रान्त के भेद का निश्चय नहीं हो जाता। तब कोई ज्ञान सम्यक् ज्ञान कैसे है? यह प्रश्न बना ही रह जाता है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि यह दोष नहीं है। यद्यपि ज्ञान मात्र के उदय होने से उक्त दोनों प्रकार के ज्ञान की विशेषताओं का निश्चय करना संभव नहीं है फिर भी ज्ञान विशेष के उत्पन्न होने से एक की विशेषता का निश्चय जिस प्रकार होता है उसे बतलाया जा रहा है:—जैसे कि कोई एक मन्दबुद्धि का व्यक्ति है; वह ज्ञान में उत्पत्ति वशात् असंगति का निर्णय करने में असमर्थ है फिर भी वह जलना, पकाना, जल में प्रवेश करना, स्नान करना, पीना, पानी में डुबकी लगाकर निकलना आदि क्रियाओं के अनुभव करनेवाले व्यक्ति को दूर से देख कर तथा उड़ते हुए धूम आदि को देखकर उक्त संगति का निश्चय कर लेता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



क्षणेनैवावधारयति, न त्वर्थक्रियाप्राप्तया। यद्यविसंवादलक्षणं प्रामाण्यं तदा श्रोत्रज्ञानस्याधिगतार्थाप्रापकत्वात् कथं प्रामाण्यमिति चेन्न। अर्थस्वरूपप्रतीतिर्हि प्रामाण्यम्। तच्च बाह्यार्थक्रियाप्राप्तिमन्तरेणापि सम्भवति। यदुक्तम्। 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः॥ अविसंवादनम्' इति। शब्दस्य श्रुतिमात्रेणैव चरितार्थत्वात् श्रुतिरेव तत्रार्थक्रियास्थितिः। यथा रविचन्द्राम्बुदचित्रादीनां दर्शनमेवार्थक्रियास्थितिः। तदुक्तम्—'ज्ञेयस्वरूसंवित्तिरिष्टा तत्र क्रियास्थितिः' इति। प्रथमं तु प्रेक्षावानर्थक्रियार्थितया जलानलादावर्थक्रियासन्देहादेव प्रवर्तते। यदि नाम तस्यैव नास्ति सन्देहो मे वर्तत इति तथापि साधकबाधकप्रमाणाभावाद्युक्तः सन्देहो भवन् केन वार्यते इति। तस्मात् स्थितमेतत्—आसादितनिरन्तरार्थक्रिया-

---

बुद्धिमान् व्यक्ति चातुरी से प्रत्यक्ष मात्र से ही उक्त संगति का निश्चय कर लेता है, इसके लिए उसे अर्थक्रिया की प्राप्ति तक जाने की आवश्यकता नहीं होती। यदि संगति या अविसमवादिता को प्रामाणिकता का स्वरूप माना जाय तो श्रोत्र ज्ञान की प्रामाणिकता नहीं हो सकेगी क्योंकि वह ज्ञात अर्थ को प्राप्त नहीं कराता है। यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि प्रामाणिकता का अर्थ है विषय के स्वरूप की जानकारी। वह क्रिया द्वारा वाह्य विषय के प्राप्त न होने पर भी संभव हो सकता है। इसलिए कहा भी है कि अविसमवादी या विषयसंगत ज्ञान जिसमें विषय और क्रिया की स्थिति हो प्रमाण होता है। अविसमवादिता अर्थक्रिया की संगति या स्थिति मात्र है। यह संगति शब्द के श्रवण मात्र से ही चरितार्थ हो जाती है अतः वह श्रवण मात्र ही अर्थक्रिया की स्थिति या संगति है। जैसे सूर्य, चन्द्र, मेघ चित्र आदि का दर्शन मात्र ही अर्थक्रियास्थिति या विषयसंगति है। पहले पहल विचारक व्यक्ति वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा से वस्तु प्राप्ति के संदेह से जल, अग्नि आदि के लिये प्रवृत्त होता है। यदि उसे संदेह न हो और मुझे हो तो भी साधक एवं बाधक प्रमाण के अभाव होने के कारण जो उचित संदेह है उसका निवारण कौन कर सकता है। इससे यह निश्चित हुआ कि व्यवहार

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



व्यवहारात्पटुतरप्रत्यक्षोदयादेवार्थे प्रवर्तते मन्दबुद्धिस्तु ताद्रूप्यानुमानादिति। अत एव तु प्रत्यक्षस्य स्वतः प्रामाण्यम्। कस्यचित्तु परतः। योगिज्ञानस्य स्वसंवेदनस्य च स्वत एव प्रामाण्यम्। अनुमानस्य तु निश्चयात्मकत्वात् स्वत एव प्रामाण्यम्। तेनायमर्थः— प्रथमत एव यद्विज्ञानं विषये प्रवृत्तं तदेव प्रमाणम्। न तु तत्रैव पश्चाद्भावि ज्ञानान्तरमपि। गृहीतग्राहित्वेन तस्याप्रामाण्यात्। यथा घटं निर्विकल्पकेन ज्ञानेन दृष्ट्वा पश्चात्तस्मिन्नेव विषये घटोऽयमिति सविकल्पकं ज्ञानं स्मरणरूपम्। यथा वा पर्वतादौ धूमं दृष्ट्वा वह्निरत्रेत्यनुमानज्ञानानन्तरं पुनरपि तत्रैव वह्निरत्रेत्यनुमानज्ञानम्। सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमित्युक्ते सामर्थ्याज्जडस्वभावस्येन्द्रियादेः परिच्छेदकत्वाभावात् प्रामाण्यं निरस्तम्। परिच्छेदकत्वं हि

---

से सदा अर्थक्रिया को प्राप्त करने के कारण, चातुर्यपूर्ण प्रत्यक्ष के उदय होने के कारण (बुद्धिमान् व्यक्ति) किसी अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है और मन्दबुद्धि वाला व्यक्ति उस प्रकार के अनुमान से ही अर्थक्रिया की ओर अग्रसर होता है। इसीलिए प्रत्यक्ष को स्वतः प्रमाण माना जाता है। किन्तु किसी-किसी को यही परतः प्रमाण ही है। योगी का ज्ञान तथा स्वसंवेदन भी स्वयं ही प्रमाण होता है। अनुमान की भी निश्चयात्मक होने के कारण स्वतः ही प्रामाणिकता है। इससे यह अर्थ निकला कि जो विज्ञान पहले से ही विषय में प्रवृत्त है वही प्रमाण है। यह आवश्यक नहीं कि बाद में होने वाला दूसरा ज्ञान भी वहीं प्रवृत्त हो। ज्ञात या गृहीत का ग्रहण या ज्ञान कराने के कारण यह दूसरा ज्ञान अप्रामाणिक ही होता है। जैसे पहले घट को निर्विकल्पक ज्ञान से जान लेने के बाद उसी घट के विषय में 'यह घट है' इस प्रकार का सविकल्पक ज्ञान होता है जो स्मरण रूप है। अथवा जैसे पर्वत में धूम देखकर यहाँ अग्नि है इस अनुमान ज्ञान के बाद फिर वहीं 'यहाँ अग्नि है' इस प्रकार दूसरा अनुमान ज्ञान है। सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहने के कारण इसके सामर्थ्य से जड़ स्वभाव वाली इन्द्रियों की प्रामाणिकता का निरास हो जाता है क्योंकि इन्द्रियाँ विषय की परिच्छेदक नहीं हो सकतीं। क्यों-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



बोद्धृत्वम् । तच्च ज्ञानस्यैव निजरूपम् । तत्कथमज्ञानात्मन इन्द्रियादेः स्वरूपं भवितुमर्हतीति ॥

## प्रमाणस्य द्वैविध्यम्; प्रत्यक्षशब्दनिर्वचनम्

तद्द्विविधं प्रत्यक्षमनुमानं चेति । प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षम् । अक्षमिन्द्रियं चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायाख्यम् । तस्मादुत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षमभिधीयते । ननु यद्यक्षाश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षं तदा मानसादि वक्ष्यमाणं ज्ञानत्रयमिन्द्रियादनुत्पत्तेः प्रत्यक्षं न स्यात् । अत्रोच्यते—प्रतिगतमक्षमिति यदुक्तं तत्प्रत्यक्षशब्दस्य व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तं प्रतिपादितम् । प्रवृत्तिनिमित्तं तु प्रत्यक्षशब्दस्यार्थसाक्षात्कारित्वमेव रूढिवशाद-

---

कि परिच्छेदक होने का तात्पर्य ज्ञाता होना है। यह ज्ञातृत्व ( ज्ञाता-होना ) ज्ञान का ही अपना स्वरूप है। यह अज्ञानात्मक इन्द्रियों का स्वरूप कैसे हो सकता है ?

### प्रमाण के दो प्रकार : प्रयक्ष शब्द निर्वचन :

वह ( प्रमाण ) दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और अनुमान। अक्ष से सम्बद्ध ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है और अक्ष का तात्पर्य इन्द्रिय है जिसके चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय आदि नाम है। इस से ( इन्द्रिय से ) उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। अब यहाँ यह प्रश्न किया जाता है कि यदि इन्द्रियों पर आधारित ज्ञान ही प्रत्यक्ष है तो आगे कहे जाने वाले तीन प्रकार के मानसिक ज्ञान, इन्द्रिय से उत्पन्न न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं कहे जा सकते। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि 'इन्द्रिय सम्बद्ध ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह परिभाषा प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर की गई है। प्रत्यक्ष शब्द के प्रयोग के लिए प्रवृत्तिनिमित्त या आवश्यविशेषता विषय की साक्षात्कारिता ही है जिस अर्थ में वह रूढ हो गया है जैसे पंकज शब्द का व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ है पंक से पैदा होने वाला किन्तु यह शब्द कमल के अर्थ में रूढ हो जाने के कारण थल कमल के लिए भी प्रयुक्त हो जाता है। इस प्रकार स्वसंवेदन आदि ज्ञान भी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



वगन्तव्यं पङ्कजवत् । ततः स्वसंवेदनादिकमपि ज्ञानं स्वसंवेदनरूपमर्थं साक्षात्करोतीति प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सिद्धचतीति ॥

## अनुमानशब्दनिर्वचनम्

मीयतेऽर्थोऽनेनेति मानम् । अनुः पश्चादर्थे । पश्चान्मानमनुमानम् । लिङ्गग्रहणलिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मरणयोः पश्चात् यद्विज्ञानं पर्वतादौ धर्मिणि परोक्षवस्त्वालम्बकं तदेवानुमानशब्देनाभिधीयते । एतच्च रूढिवशादवगन्तव्यम् ।

## प्रमाणसंख्याविप्रतिपत्तिः

द्विविधवचनेन एकं त्रीणि चत्वारि पञ्च षडिति विप्रतिपत्तयो निरस्यन्ते । तथा हि-प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकः । प्रत्यक्षमनुमानं शब्दं चेति सांख्यः । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानं शाब्दं चेति

---

स्वसंवेदन रूप अर्थ का साक्षात्कार करता है इसलिए वह प्रत्यक्ष शब्द का वाच्य सिद्ध हो जाता है।

### अनुमान शब्द निर्वचन :

जिसके द्वारा अर्थ को पाया जाता है उसे मान कहते हैं। अनु शब्द का अर्थ है पश्चात्। इस तरह पश्चात् ( बाद में ) होने वाले मान ( प्रमाण ) को अनुमान कहा जाता है। हेतु के ज्ञान तथा हेतु और साध्य के सम्बन्ध के स्मरण के पश्चात् पर्वत आदि पक्ष मे जो परोक्ष वस्तु ( अग्नि आदि ) के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाला ज्ञान है वही अनुमान शब्द से कहा जाता है। यह रूढ़ि के कारण ही माना जाता है।

### प्रमाण संख्या विप्रतिपत्ति

प्रमाण को दो प्रकार का कहने से उसे एक, तीन, चार, पाँच, छः मानने वाले समस्त मतों का खण्डन हो जाता है। जैसे चार्वाक के मत में केवल प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है; सांख्य मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण हैं । नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द

९९५०३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



नैयायिकः। प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दमुपमानमर्थापत्तिरिति प्राभाकरः। प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दमुपमानमर्थापत्तिरभावश्चेति मीमांसकः।

द्विविधवचनेन द्वित्वे प्राप्ते प्रत्यक्षमनुमानं चेति पुनर्यदुक्तं तदन्वयाद्वित्वनिरासार्थम्। तथा हि वैयाकरणो ब्रूते प्रत्यक्षं शाब्दं चेति प्रमाणद्वयम्।

## चार्वाकाभिमतानुमानाप्रामाण्यनिरसनम्

तत्र अनुमानस्य प्रामाण्यमवश्यमभ्युपगन्तव्यं चार्वाकेणेति प्रतिपाद्यते। तथाहि—स खलु प्रत्यक्षलक्षणं परप्रतिपादनाय प्रणयति। परस्य च बुद्धिर्न प्रत्यक्षा। किं तर्हि कायवाग्व्यापारादिकार्यादनुमेया। अतोऽनेन कार्यलिङ्गजमनुमानं बलादभ्युपगतं स्यात्। परलोकनिषेधाय चानुपलम्भाख्यं साधनमाचष्टे। अतोऽसौ स्वयमेवानुमानेन

---

चार प्रमाण हैं। प्रभाकर के मत से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति पांच प्रमाण हैं। मीमांसक (कुमारिल भट्ट आदि) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव (अनुपलब्धि) छः प्रमाण मानते हैं।

प्रमाण दो प्रकार का होता है इतना कहने से ही वह दो प्रकार का सिद्ध हो जाता; फिर भी, प्रत्यक्ष और अनुमान का नाम स्पष्ट रूप से इसलिए लिया गया है कि अन्य प्रकार के दो प्रमाण मानने वाले मतों का खण्डन हो जाय। जैसे व्याकरण शास्त्र वाले कहते हैं कि प्रत्यक्ष और शब्द दो प्रमाण हैं।

### चार्वाक के मतानुसार अनुमान के अप्रामाण्य का खण्डन

अब यहाँ यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि चार्वाक को भी अनुमान को अवश्य ही प्रमाण मानना होगा, क्योंकि वह दूसरों को समझाने के लिए प्रत्यक्ष के लक्षण का निरूपण करता है। दूसरे की बुद्धि का प्रत्यक्ष नहीं होता। तब शरीर, वाणी आदि क्रियाओं को कार्य मानकर कारण रूप से उसका (बुद्धि का) अनुमान होता है। इस प्रकार कार्य रूप हेतु से कारण रूप साध्य का अनुमान बाध्य होकर चार्वाक को स्वीकार करना पड़ेगा। परलोक के निषेध के लिए चार्वाक अनुपलब्धि का हेतु के रूप में प्रयोग करता है

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



प्रमाणेन व्यवहरति, नानुमानं प्रमाणमिति च ब्रुवन् कथं नाम नोन्मत्तश्चार्वाकः स्यात् ? अविसंवादकत्व = विज-

## शब्दोपमानार्थापत्त्यभावानां प्रमाणान्तरत्वनिरसनम् संगतत्व

शाब्दं च ज्ञानं बाह्यार्थाविसंवादकत्वेन प्रमाणमेष्टव्यम्। अविसंवादकत्वं च सम्बन्धमन्तरेण न संगच्छते। न च शब्दानां बाह्यार्थेन सह कश्चित्सम्बन्धोऽस्ति। तथा हि—शब्दार्थयोः सम्बन्धो भवन् तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा भवेत्। तत्र न तावत्तादात्म्यं शब्दार्थयोः, अत्यन्तभेदेन प्रतिभासनात्। तादात्म्यं ह्येकत्वमभिधीयते। भिन्नप्रतिभासयोरप्येकत्वे स्वीक्रियमाणे गवाश्वादीनामप्येकत्वप्रसङ्गः। नापि तदुत्पत्तिः। अन्वयव्यतिरेकाभावात्। तस्मात्

---

( अर्थात् परलोक नहीं है क्योंकि उपलब्ध नहीं होता ), इस तरह वह स्वयं भी अनुमान को प्रमाण मानकर व्यवहार करता है और यह भी कहता है कि अनुमान प्रमाण नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या चार्वाक का यह कथन उन्मत्त का प्रलाप नहीं हो जाता ?

### शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, और अभाव के अतिरिक्त प्रमाण का खण्डन

#### शब्द :

शाब्दज्ञान बाह्य विषय के साथ संगत ( अविसंवादक ) होने के कारण प्रमाण माना जाय यह एक विचारणीय विषय है। बिना किसी सम्बन्ध को माने संगति मानना संभव नहीं है और शब्द का बाह्य विषय के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यदि शब्द और बाह्य विषय ( शब्द के अर्थ ) में कोई सम्बन्ध माना गया तो या तो वह तादात्म्य सम्बन्ध होगा, या उत्पत्ति सम्बन्ध। शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों अत्यन्त भिन्न रूप में प्रतिभासित होते हैं। तादात्म्य सम्बन्ध को एकत्व सम्बन्ध कहा जाता है। भिन्न रूप से प्रतिभासित होने वाले पदार्थों को भी यदि एकत्व माना गया तो गाय और घोड़े में भी एकत्व

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



तदुत्पत्तिरित्येवं वक्तुं न शक्यते। तथा हि—शब्दव्यापारमन्तरेण अहेतोरेव मृत्पिण्डदण्डसलिलकुलालचक्रादेः सकाशादुत्पद्यमानो घटादिरर्थो दृश्यते। शब्दोऽपि बाह्यार्थं विनैव पुरुषेच्छामात्रेण ताल्वादिव्यापारादेवोत्पद्यते। अथ तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामन्य एव वाच्यवाचकत्वलक्षणः शब्दार्थयोः वास्तवः सम्बन्धोऽस्ति। एवं तर्ह्यसंकेतविदोऽपि पुरुषस्य शब्दादुच्चरितान्नियतार्थप्रतीतिः प्राप्ता, योग्यतामात्रेणैव प्रदीपात् घटादिप्रतीतिवत्। न चैतदस्ति। तथा हि—अभिनवो नालिकेरद्वीपादायातः पुमानग्निशब्दं श्रुत्वाऽप्यग्नि-शब्दान्न किञ्चिदर्थं प्रत्येतीति। अथ तांस्तान्संकेतानपेक्ष्य तत्तदर्थप्रत्यायनयोग्य एवायं शब्दो जायत इत्युच्यते। तन्न। न

---

मानना पड़ेगा (जो किसी को स्वीकार्य नहीं है)। शब्द और अर्थ में उत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि इन दोनों में अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध का अभाव है। एक से दूसरे की उत्पत्ति होती है यह कहा भी नहीं जा सकता; क्योंकि शब्द के व्यापार के न रहने पर भी मृत्तिका, दण्ड, जल, कुम्भकार, चक्र आदि सम्बन्ध से उत्पन्न होता हुआ घट आदि अर्थ दीख पड़ता है। शब्द भी बाह्य अर्थ के न रहने पर भी पुरुष की इच्छा मात्र से तालु, कण्ठ आदि के व्यापार से ही उत्पन्न होता है। यदि कहा जाय कि तादात्म्य और उत्पत्ति से भिन्न वाच्यवाचक रूप शब्द और अर्थ का वास्तविक सम्बन्ध है तब तो शब्द के संकेत को न जानने वाले व्यक्ति को भी शब्द के उच्चारण मात्र से निश्चित अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए जैसे योग्यता होने मात्र से दीपक से घट आदि विषयों की प्रतीति हो जाती है। किन्तु इस प्रकार की बात है नहीं। जैसे कि कोई नया व्यक्ति जो अभी अभी नालिकेर द्वीप से आया है वह अग्नि शब्द से कुछ भी अर्थ नहीं समझता। यदि यह कहा जाय कि उन उन संकेतों को प्राप्त हो जाने पर ही यह शब्द अपने अर्थों का बोध कराने योग्य हो पाता है, तो यह कहना उचित नहीं है। इस प्रकार इसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि सभी जगह संकेत की ही योग्यता माननी होगी, और यह नहीं ज्ञात हो सकेगा कि वक्ता ने किस अर्थ को बतलाने की इच्छा से शब्द

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



ह्येवमन्य प्रामाण्यमवतिष्ठते । सर्वत्र संकेतस्य योग्यत्वात् । ततो न ज्ञायते किं विवक्षितार्थमाह, आहो स्विदन्यं वेति । अस्तु वा अन्य एव कश्चित्सम्बन्धः । तथा च सोऽपि के सम्बन्धेन तयोः सम्बद्ध इति प्रष्टव्यः । अन्येन चतुर्थेन सम्बधेनेति चेत्, चतुर्थोऽपि तेषु केन सम्बन्धेन सम्बद्धः? पञ्चमेन केनचिच्चेत्, सोऽपि केनेत्यनवस्थायां अन्त्यासिद्धौ पूर्वेषामप्यसिद्धिः । अथासम्बद्ध एव शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति चेत् । तन्न । यो न सम्बद्धः स कथं सम्बन्धो भवति घटस्येव पटः । अथ वक्तव्यं सम्बन्धस्य तादृश एव स्वभावः, येन सम्बन्धान्तरनिरपेक्ष एवं परं सम्बध्नाति । तदयुक्तम् । प्रमाण सिद्धे हि स्वभावे नोत्तरमभिधीयते । यथाऽग्नेरेवायमीदृशः स्वभावो

---

का उच्चारण किया है : वह अपना विवक्षित अर्थ बतलाना चाहता है या दूसरा कुछ ।

तब इन सम्बन्धों से अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध ही माना जाय । ऐसी स्थिति में भी यह प्रश्न पूछा जायगा कि वह सम्बन्ध इन दोनों ( शब्द और अर्थ ) के साथ किस सम्बन्ध से सम्बन्धित है । यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि यह तीसरा सम्बन्ध किसी चतुर्थ सम्बन्ध से सम्बन्धित है तो उस चतुर्थ सम्बन्ध के विषय में भी वही प्रश्न उठेगा कि वह इन दोनों से किस सम्बन्ध से सम्बन्धित है । यदि उसको किसी पांचवे सम्बन्ध से सम्बन्धित मान लिया जाय तो पांचवें के बारे में भी वही प्रश्न उठेगा और इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी और अनवस्था दोष हो जाने के कारण अन्तिम सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा और अन्तिम सम्बन्ध के सिद्ध न होने के कारण पहले के सम्बन्ध भी असिद्ध हो जायगें । यदि यह कहा जाय कि असम्बद्ध होना ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो सम्बद्ध ही नहीं है वह सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? जैसे घट और पट । इसलिए यह कहना होगा कि सम्बन्ध का कुछ ऐसा स्वभाव ही है कि विना किसी दूसरे सम्बन्ध की अपेक्षा किये ही वह दूसरे को सम्बद्ध कर देता है । किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि प्रमाण से सिद्ध स्वभाव के विषय में ही बाद में कुछ कहा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



वस्तुत दाहकत्वं नाम नान्यस्याकाशादेः। सम्बन्धसिद्धौ तु प्रमाणं किञ्चिन्निरूपयन्तो न पश्यामः। न चैवं वक्तव्यं शब्दशक्तिस्वभावादेव शब्दानां नियतार्थाव्यभिचारित्वमिति। तथा हि—यदि घट इत्ययं शब्दः स्वभावादेव कम्बुग्रीवाकारं वारिसंधारणसमर्थं पदार्थमभिदधाति, तत्कथं संकेतान्तरमपेक्ष्य पुरुषेच्छया तुरगादिकमभिदध्यात्। न हि शालिबीजं स्वहेतोरंकुरजननस्वभावमुत्पन्नं संकेतान्तरमपेक्ष्य गर्दभं जनयितुं समर्थं स्यात्। नाप्याप्तप्रणीतशब्दानां प्रामाण्यमभिधातुमुचितम्। आप्तत्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात्। तथा हि—आप्तत्वं क्षीणदोषत्वमुच्यते। क्षीणदोषता च परचित्तवृत्तिः काचिदभिधीयते। परचित्तवृत्तीनां दुर्लक्ष्यत्वात्, कायवाग्व्या-

---

हीं जाता जैसे अग्नि का ही ऐसा स्वभाव है जिसे दाहकता कहा जाता है अन्य किसी आकाश आदि का नहीं। सम्बन्ध की सिद्धि में कोई इस प्रकार की प्रामाणिकता विचार करने पर भी हमें नहीं दीखती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शब्द-शक्ति के स्वभाव से ही शब्द निश्चित अर्थ का अव्यभिचारी होता है। क्योंकि यदि 'घट' यह शब्द स्वभाव से ही शंख सदृश गर्दन के आकारवाले तथा जल-धारण-समर्थ पदार्थ का निर्देश करता है तब कैसे अन्य प्रकार के संकेत की अपेक्षा में प्रयोगकर्त्ता पुरुष की इच्छा से अश्व आदि का निर्देश कर सकता है ? इसी तरह शालिबीज अपने कारण से अंकुर उत्पन्न करने वाले स्वभावरूप से उत्पन्न हुआ है वह अन्य संकेत को पाकर गर्दभ को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। आप्त व्यक्तियों द्वारा निर्मित शब्दों को भी प्रामाणिक मानना उचित न होगा। क्योंकि आप्त कौन है यह निश्चित करना ही संभव नहीं है।

यदि दोष-राहित्य को आप्तत्व माना जाय तो क्षीण-दोषता ( दोष राहित्य ) दूसरे की किसी चित्तवृत्ति को ही कहा जाता है। एक ओर तो दूसरे की चित्तवृत्तियों का सही ज्ञान प्रत्यक्षतः नहीं हो सकता और दूसरी ओर शरीर, वाणी आदि के व्यापार रूप कार्य से कारण रूप में वृत्ति का अनुमान

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



पारादिकार्यलिंगस्यान्यथाऽपि वृत्तिदर्शनात् । सरागा अपि वीतरागा इव चेष्टन्त इति न्यायात्कथमाप्तत्वं निश्चीयतामिति । सम्बन्धदूषणेन च वैदिकशब्दानां प्रामाण्यं निरस्तमिति पृथङ्नोक्तम् । कथं तर्हि सर्वोऽयमसन्दिग्धो लौकिको व्यवहार इति चेत् । तथा तथा संकेतेन विवक्षावशादिति न काचित् क्षतिः । यथोक्तम् 'वक्तुरभिप्रायं सूचयेयुः शब्दा' इति ॥

उपमान :

नैयायिकस्योपमानप्रपञ्चः । यः प्रतिपत्ता गां जानाति न गवयं, स च अपदिष्टः स्वामिना अरण्यं गत्वा गवयमानयेति । स च गवयशब्दवाच्यमर्थमजानानो वनेचरमन्यं तज्ज्ञं पुरुषं पृष्टवान्, भ्रातः कीदृशो गवय इति । स चाह यादृशी गौस्तादृशो गवय इति ।

---

भी नहीं किया जा सकता क्योंकि व्यापार के विपरीत भी वृत्तियाँ देखी जाती हैं। राग वाले व्यक्ति भी ऐसा व्यहार करते हुए देखे जाते हैं जैसे वे वीतराग हों। इस न्याय से तब किस प्रकार आप्तत्व का निश्चय किया जा सकेगा ? सम्बन्ध को दूषित कह देने से वैदिक शब्दों की प्रामाणिकता का भी खण्डन हो जाता है इसलिए इसे अलग नहीं बतलाया गया है। तब यह सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार असंदिग्ध रूप से कैसे चल रहा है ? इस प्रश्न का समुचित उत्तर यही है कि उस-उस प्रकार के संकेत से वक्ता के इच्छानुसार शब्द भिन्न प्रकार के अर्थों का बोध कराते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि शब्द वक्ता के अभिप्राय को सूचित करते हैं।

उपमान :

नैयायिकों का उपमान सम्बन्धी विचार। कोई जानकार व्यक्ति गाय को जानता है किन्तु गवय ( नील गाय ) को नहीं जानता। उसको अपने स्वामी से आदेश मिलता है कि जंगल में जाकर गवय लाओ। वह गवय शब्द के अर्थ को न जानते हुए किसी अन्य जानकार जंगली आदमी से पूछता है कि भाई गवय कैसा होता है ? वह बतलाता है कि जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है। वह जंगल में जाता है। गाय के समान किसी जानवर को

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



तस्यारण्यगतस्य प्रेष्यपुरुषस्य अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकारि गवयसारूप्यज्ञानं कर्तृ अयमसौ गवयशब्दवाच्योऽर्थ इति प्रतिपत्ति फलरूपा जनयत्प्रमाणम् । एतच्चायुक्तम् । यत्प्रामाण्यं नाम विषय-वत्तया व्याप्तम् । नचास्य निपुणमपि निरूपयन्तो विषयं संपश्यामः । तथा हि—समाख्या नाम सम्बन्धः तस्य विषयो वर्ण्यते । स च परमार्थतो नास्ति । दृश्यत्वे तस्यानुपलम्भेन बाधा । अदृश्यत्वे तस्य सत्तासाधकं प्रमाणं नेक्ष्यते । किं च—स हि सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नोऽभिन्नो-वा । यदा भिन्नस्तदा तयोः सम्बन्धः केन सम्बन्धेनेति वाच्यम् । सम्बन्धान्तरकल्पनायामनवस्था । अथाभिन्नस्तदा

देखता है और उस जंगली व्यक्ति के वाक्य के अर्थ का स्मरण करता है। इसके बाद यही पशु गवय शब्द का वाच्य है, इस प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करता है। यही अनुमान प्रमाण का फल है। इसमें अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण सहकारी कारण है, गवय का सारूप्य ज्ञान कर्ता है और यह गवय पद वाच्य है, यह अर्थ का प्रतीति फल है इसी फल को उत्पन्न करने के कारण उपमान प्रमाण है। किन्तु नैयायिकों का यह मत प्रामाणिक नहीं है। जो प्रामाणिक ज्ञान होता है वह सविषयक होता है। अर्थात् उसका कुछ न कुछ विषय अवश्य होता है। सावधानीपूर्वक विचार करने पर भी इस ( उपमान ) का कोई विषय दीख नहीं पड़ता है। समाख्या नामक सम्बन्ध उसका विषय माना जाता है जो वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं है। यदि उस सम्बन्ध को दृश्य सम्बन्ध माना जाय तो अनुपलब्ध होने के कारण इस मान्यता में बाधा आ जाती है। उस सम्बन्ध को अदृश्य मानने पर उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दीख पड़ता है। और यदि यह प्रश्न उठाया जाता है कि वह वाच्य-वाचक सम्बन्ध या समाख्या-सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है या अभिन्न, तब, यदि भिन्न है तो इस सम्बन्ध का सम्बन्धियों के साथ कौन सा सम्बन्ध है ? यदि उसको कोई दूसरा सम्बन्ध मान लिया जाय तो अनवस्था दोष हो जाता है और यदि दोनों सम्बन्धियों से सम्बन्ध को अभिन्न मान लिया जाय

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



सम्बन्धिनावेव केवलौ। न समाख्या नाम सम्बन्धः कश्चित्। अथ सम्बद्धबुद्धिजनकत्वं सम्बन्धः। तन्न युक्तम्। यतः सम्बद्धावेताविति बुद्धिः स्वहेतुबलात् सम्बद्धवस्तुद्वयादपि सम्भाव्यमाना न सम्बन्धान्तरमाक्षिप्तुं प्रभवति ॥

एवं मीमांसकोपवर्णितस्यापि प्रामाण्यं निराकर्तव्यम्। तथा हि, सादृश्यविशिष्टः पिण्डः पिण्डविशिष्टं वा सादृश्यमुपमानस्य विषयस्तेन वर्ण्यते। न च सदृशवस्तुनोऽतिरिक्तं सादृश्यं व्यवस्थापयितुं शक्यते, प्रमाणेनाप्रतीतत्वात्। तथा हि—यदि सदृशादतिरिक्तं सादृश्यं दृश्यं स्यात्, तदा दृश्यानुपलम्भग्रस्तमेतत्। अथादृश्यं तदा तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात् अनुमानादपि कथं तत्सिद्धिः। सादृश्यप्रत्ययस्तु स्वहेतोस्तथोत्पन्नेन सदृशवस्तुनाऽपि क्रियमाणो घटत

---

तो केवल दोनों सम्बन्धी ही रहेंगे उनसे अतिरिक्त समाख्या नामक कोई सम्बन्ध होगा ही नहीं। यदि यह कहा जाय कि सम्बद्ध-ज्ञान का कारण वह सम्बन्ध है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'ये दोनो सम्बद्ध हैं' इस प्रकार का ज्ञान अपने हेतु वशात् सम्बद्ध दो वस्तुओं से भी संभव हो सकता है इसलिए किसी अन्य सम्बन्ध की अनिवार्य रूप से सिद्धि उससे नहीं हो सकती।

इसी प्रकार मीमांसकों द्वारा निरूपित उपमान की प्रामाणिकता का निराकरण किया जाना चाहिये। सादृश्य से विशिष्ट पिण्ड (वस्तुविशेष) अथवा पिण्ड से विशिष्ट सादृश्य को मीमांसक उपमान का विषय मानते हैं। लेकिन सदृश वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य की स्थापना करने में वे समर्थ नहीं हो सकते क्योंकि किसी भी प्रमाण से इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। जैसे कि – यदि सदृश वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य को दृश्य माना जाय तो दृश्य की अनुपलब्धि दोष है. वह मान्यता-ग्रस्त हो जाती है। यदि उसको अदृश्य माना जाय तो उससे सम्बद्ध हेतु के अभाव में अनुमान द्वारा भी उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है। सादृश्य ज्ञान तो अपने कारणों से उत्पन्न सदृश वस्तुओं के द्वारा भी संभव है अतः सादृश्य ज्ञान से भी सादृश्य सम्बन्ध की

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



इति न तत्प्रत्ययादपि तत्सिद्धिर्युक्ता । उपमानादेव सादृश्यसिद्धिरिति चेन्न । यतः प्रमाणान्तरसिद्धयोरेव सादृश्यपिण्डयोर्यो विशेषणविशेष्यभावस्तस्योपमानविषयत्वं तेन वादिना परिकल्प्यते । तत्कथं सादृश्यमात्रस्याप्युपमानात्सिद्धिरिति ॥

## अर्थापत्ति

अर्थापत्तेरपि प्रामाण्यं पृथङ नोपपद्यते । तथा हि प्रत्यक्षादिप्रतीतो योऽर्थः स येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य कल्पनमर्थापत्तिरित्यर्थापत्तेर्लक्षणम् । अत्रेदं चिन्त्यते—योऽसौ प्रमाणदृष्टोऽर्थः तस्य यदि परिकल्प्यमानेन परोक्षार्थेन सह कश्चित्तादात्म्यलक्षणः तदुत्पत्तिलक्षणो वा प्रतिबन्धोऽस्ति तदा स्वभावलिङ्गजा कार्यलिङ्गजा वाऽसौ प्रतिपत्तिरित्यर्थापत्तिरनुमानमेव । अथ नास्ति प्रतिबन्धः तदानीमर्थापत्तिः प्रमाणमेव न भवति । असम्बन्धात् घटात्पटप्रतीतिर्वदिति ॥

---

सिद्धि मानना युक्तिसंगत नहीं है। यदि यह कहा जाय कि उपमान से ही सादृश्य की सिद्धि होती है तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध सादृश्य और पिण्ड में विशेषण विशेष्यभाव और उसमें उपमान की विषयता वादी ( मीमांसक ) द्वारा मान्य है; तब सादृश्य की भी सिद्धि उपमान से कैसे माना जा सकती है ?

**अर्थापत्ति :**

अर्थापत्ति को भी अलग प्रमाण नहीं माना जा सकता । अर्थापत्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह जिस अर्थ के बिना उपपन्न ( सिद्ध ) नहीं हो पाता है उस अर्थ की भी कल्पना कर ली जाती है । यही अर्थापत्ति का स्वरूप या लक्षण है । यहाँ यह विचारणीय है कि जो अर्थ प्रमाण से ज्ञात है उस अर्थ का कल्पित किये जानेवाले अज्ञात अर्थ के साथ कैसा सम्बन्ध है : तादात्म्य सम्बन्ध है या उत्पत्ति सम्बन्ध । यदि इन दोनों सम्बन्धों में से कोई सम्बन्ध हुआ तो स्वभाव हेतुजन्य या कार्य हेतुजन्य वह प्रतीति होगी । इस तरह अर्थापत्ति अनुमान ही होगी । यदि ज्ञात और अज्ञात अर्थ में कोई इस प्रकार का प्रतिबन्ध

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



## अभाव ( अनुपलब्धि )

अभावस्य स्वरूपमेव तावन्नोपलभामहे, कुत एव तस्य प्रामाण्यं भविष्यति। तथा हि—प्रत्यक्षादिप्रमाणानामनुत्पत्तिरभावाख्यं प्रमाणं मीमांसकैरभिधीयते। तत्र केयमनुत्पत्तिः ? किं प्रसज्यवृत्त्या प्रमाणानुत्पत्तिमात्रं ? अथ पर्युदासवृत्त्या वस्त्वन्तरम् ? वस्त्वन्तरमपि जडरूपं, ज्ञानरूपं वा ? ज्ञानमपि किं ज्ञानमात्रम् एकज्ञानसंसर्गिवस्तुनो ज्ञानं वा ? तत्र न तावत् प्रसज्यरूपोऽभावो युज्यते। तस्य सर्वशक्तिशून्यत्वात् परिच्छेदकत्वं ज्ञानजनकत्वं वा कथं भवेत् ? अत एव केनापि न तत्प्रतिपद्यते। यदाह पण्डितचक्रचूडामणिः—'नाभावः कस्यचित्प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तिहेतुर्वा। तस्यापि कथं प्रतिपत्तिः' इति। नापि जडरूपं, जडस्य परिच्छेदकत्वाभावात्। न हि जडरूपं शकटादिकं घटं परिच्छिन्नत्तीति क्वापि दृष्टं श्रुतं वेति।

---

नहीं है। तब अर्थापत्ति प्रामाणिक ही नहीं हो सकती क्योंकि सम्बन्ध न होने पर उस प्रकार का ज्ञान संभव नहीं जैसे घट से पट की प्रतीति।

**अभाव ( अनुपलब्धि ) :**

अभाव का तो स्वरूप ही नहीं प्राप्त होता तब वह प्रमाण कैसे हो सकेगा ? जैसे कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की अनुत्पत्ति को मीमांसक अभाव प्रमाण मानते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह अनुपपत्ति क्या है ? क्या यह प्रसज्य वृत्ति से प्रमाण की अनुत्पत्ति मात्र है ? अथवा पर्युदास वृत्ति से कोई अन्य वस्तु ? यदि अन्य वस्तु भी है तो वह जड़ रूप है या ज्ञान रूप ? यदि ज्ञान है तो क्या वह ज्ञान मात्र है ? या किसी ज्ञान विशेष से सम्बन्धित किसी विषय का ज्ञान है ? इन विकल्पों में अभाव को प्रसज्यरूप मानना ठीक नहीं। वह सर्वशक्तिशून्य होने के कारण परिच्छेदक अथवा ज्ञानजनक कैसे हो सकता है। इसलिए कोई भी उसे जान नहीं पाता है। पण्डित चक्र के शिरमौर का कहना है कि अभाव न तो किसी की प्रतिपत्ति ( ज्ञान ) है और न किसी प्रतिपत्ति का हेतु है तब उसकी भी प्रतिपत्ति ( ज्ञान ) कैसे हो सकती है ? वह जड़ रूप भी नहीं हो सकता क्योंकि जड़ परिच्छेदक नहीं हो सकता। जड़ रूप गाड़ी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



नापि ज्ञानमात्रं, देशकालस्वभावविप्रकृष्टस्यापि सुमेरुशंखचक्रवर्तिपिशाचादेरपि ज्ञानमात्रादभावप्रमाणादभावप्रसङ्गात् । अथैकज्ञानसंसर्गिभूतलादि वस्तुज्ञानमभावोऽभिधीयते तदा प्रत्यक्षविशेषस्यैवाभावप्रमाणनामकरणान्नास्माकं काचिद्विप्रतिपत्तिरिति । स्थितमेतत्—प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्विविधमेव प्रमाणमिति ॥

## प्रत्यक्षलक्षणम्

2067

तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् । पूर्वापरमनुसन्धाय शब्दसङ्कीर्णाकारा प्रतीतिरन्तर्जल्पाकारा वा कल्पना । यथा विज्ञपुरुषस्य सोऽयं घट इति प्रतीतिः । बाल मूकतिर्यगादीनामन्तर्जल्पाकारा

---

(शकट) घट को परिच्छिन्न करता है, ऐसी बात कहीं कभी किसी ने न तो देखी है और न सुनी। उसे ज्ञान मात्र भी नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर देश, काल और स्वभाव से दूरस्थ वस्तुओं, जैसे सुमेरु, शंख चक्र में रहने वाले पिशाच आदि का भी ज्ञान मात्र से अभाव प्रमाण द्वारा अभाव मानना पड़ेगा। यदि एक ज्ञान से सम्बन्धित भूतलादि वस्तु का ज्ञान ही अभाव कहा जाता है तब तो प्रत्यक्ष विशेष का ही अभाव नाम रख दिया जाता है इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं।

## प्रत्यक्ष प्रमाण

### प्रत्यक्ष प्रमाण लक्षण; कल्पना तथा भ्रम के प्रत्यक्षत्व का खण्डन

इन प्रमाणों में कल्पना से अपोढ (रहित) एवं अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। कल्पना दो प्रकार की होती है: पूर्व और अपर का अनुसंधान करके शब्द संकीर्ण रूप प्रतीति अथवा आन्तरिक जल्पवाली प्रतीति। जैसे विज्ञ पुरुष की यह प्रतीति कि यह वही घट है (पहले प्रकार की कल्पना का उदाहरण है)। बालक, मूक, पशु आदि में आन्तरिक जल्परूप या परामर्श

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



परामर्शरूपा वा प्रतीतिः। तथा चोक्तम् "अभिलापसंसर्ग योग्य-प्रतिभासप्रतीतिः कल्पना" इति ॥

ननु बालमूकादीनामन्तर्जल्पाकारं कल्पनाज्ञानमस्तीति कुतो निश्चेतव्यमिति चेत्, विकल्प कार्यादिष्टानिष्टोपादानपरिहारात्। दृष्टं चेदं कार्यं बालमूकादौ, ईप्सितार्थस्वीकरणमनीप्सितार्थत्यजनं नाम। बालमूकादिविज्ञानस्य कल्पनात्वसूचनेन भट्टोक्तालोचनाज्ञानं सविकल्पकमिति प्रतिपादितं भवति। किं पुनः कारणं कल्पना-विभ्रमात्मकं च ज्ञानं प्रत्यक्षं न स्यादिति चेन्न। अर्थस्वरूपसाक्षात्कारि हि ज्ञानं प्रत्यक्षमिति सर्वेषां प्रसिद्धम्। न च कल्पनाविभ्रमावर्थरूपं साक्षात्कर्तुं समर्थौ। तथा हि—अर्थग्राहकं ज्ञानमर्थस्य कार्यम्। अर्थो हि ग्राह्यत्वात् ज्ञानस्य कारणम्। यथोक्तम्—

---

रूप प्रतीति (द्वितीय प्रकार की कल्पना का उदाहरण है)। इसलिए कहा गया है कि अभिलाप संसर्ग (शब्द सम्बन्ध) योग्य प्रतिभास प्रतीति कल्पना है।

अब यह आशंका की जाती है कि बालक और मूक में अन्तर्जल्प रूप कल्पना ज्ञान है यह कैसे निश्चित किया जा सकता है? उत्तर पक्ष से कहा जाता है कि विकल्प कार्य से तथा इष्ट के ग्रहण और अनिष्ट के परिहार से उक्त निश्चय संभव है। बालक और मूक व्यक्ति में भी देखा जाता है कि वे इच्छित अर्थ को स्वीकार करते हैं और अनिच्छित अर्थ का परित्याग। बालक एवं मूक व्यक्तियों के ज्ञान को कल्पना ज्ञान मान लेने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि भाट्ट मीमांसकों का आलोचना ज्ञान सविकल्पक ज्ञान है। कल्पना और विभ्रमात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं माना जाता इसका क्या कारण है? यह प्रश्न ही ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ के स्वरूप को साक्षात् कराने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है यह सभी को मान्य है। और कल्पना तथा विभ्रमात्मक ज्ञान अर्थ के स्वरूप को साक्षात् कराने में समर्थ नहीं हैं। अर्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान अर्थ का कार्य है और अर्थ ग्राह्य होने से ज्ञान का कारण है। कहा भी गया है कि :

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



"भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेत् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ॥" इति ॥

कल्पनाज्ञानमर्थमन्तरेण वासनामात्रादेवोपजायमानं कथमर्थस्य कार्यं स्यात् । अर्थेन सह अन्वयव्यतिरेकाभावात् । न हि यदन्तरेणापि यद्भवति तत्तस्य कार्यम्, अतिप्रसङ्गात् । यदि पुनः कल्पनाज्ञानमर्थादुपजायेत, तेनापि तदा घटादिरर्थो दृश्येत । ततश्चान्धस्यापि रूपदर्शनप्रसङ्गः, न चास्ति । अत एवोक्तम् 'शाब्द्यां बुद्धावर्थस्य प्रत्यक्ष इव प्रतिभासाभावात् नास्ति कल्पनायाः अर्थसाक्षात्कारित्वम्' इति एतेन यदुक्तं परेण—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ इति ॥

तन्निरस्तम् । तथाहि—घटे पुरोवर्तिनि उच्चार्यमाणे तत्समीपवर्ति भूतलादिज्ञानमुच्चारणरहितमनुभूयत एव । न च तथा तत्र

---

'भिन्न समय में ग्राह्य कैसे होगा ? जबकि ज्ञान के स्वरूप देने में समर्थ हेतुता को ही तार्किकों ने ग्राह्यता माना है ।'

कल्पना अर्थ के बिना जो केवल वासना मात्र से उत्पन्न हो जाता है वह ज्ञान अर्थ का कार्य कैसे होगा ? क्योंकि उसका अर्थ के साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं है । जिसके बिना भी जो उत्पन्न हो जाता है वह उसका कार्य नहीं हो सकता । उसे कार्य मानने में अतिव्याप्ति दोष आता है । और भी, यदि कल्पना ज्ञान को अर्थ से उत्पन्न माना जाय तो उस कल्पना ज्ञान से भी घट आदि अर्थ को दीखाना चाहिए । तब तो अन्धे को भी रूप दिखलाई पड़ेगा किन्तु यह होता नहीं है । इसलिए कहा जाता है कि शाब्द ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान में अर्थ का प्रतिभास प्रत्यक्ष के समान नहीं होता है अतएव कल्पना में अर्थ की साक्षात्कारिता नहीं मानी जाती है । इस कथन से प्रतिपक्षी का निम्नलिखित मत कि :—'कोई भी ऐसा प्रत्यय नहीं है जो शब्द के अनुगम के बिना हो । सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही भासित होता है,'

यह भी खण्डित हो जाता है । जैसे कि सामने विद्यमान घट के उच्चारण करने पर उसके समीपवर्ती पृथिवी आदि का ज्ञान उच्चारण के बिना भी अनुभव

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



शब्दानुगतोऽस्ति । न च विकल्पद्वयं सकृदिति न्यायात् ॥

भ्रान्तमपि ज्ञानं नार्थसाक्षात्कारि । भ्रान्तं ह्यर्थक्रिया समर्थे वस्तुनि विपर्यस्तमुच्यते । अर्थक्रियाक्षमं च वस्तुस्वरूपं देशकालाकारनियतं, तत्कथं विपरीतप्रतिभासिना भ्रान्तेन ज्ञानेन साक्षात्क्रियते । यदाह आचार्यः—"तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" इति ॥

एतेन कामलिनः शुक्ले शंखे पीतप्रतिभासि ज्ञानं, भ्रमादलातादौ चक्रादिनिर्भासि ज्ञानं, गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य चलद्वृक्षादिभ्रान्तिज्ञानं, गाढमर्मप्रहारहतस्य ज्वलत्स्तम्भादि प्रतिभासि ज्ञानं च, न प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति । ननु यदि नाम तज्ज्ञानं न प्रत्यक्षं कथं ततो वस्तुप्राप्तिरिति चेत्, न ततो वस्तुप्राप्तिः । किं तर्हि, ज्ञानान्तरादेवेति केचित् ॥

में आता है। उस भूतलादि ज्ञान में शब्द का अनुगम उस प्रकार नहीं है। वहां पर दो विकल्प भी नहीं माने जा सकते क्योंकि दोनों ज्ञान एक साथ होते हैं ।

भ्रान्त ज्ञान भी अर्थ का साक्षात्कार कराने वाला नहीं होता । अर्थक्रिया समर्थ वस्तु में विपर्यस्त ज्ञान भ्रान्त ज्ञान कहा जाता है । अर्थ-क्रिया समर्थ वस्तु का स्वरूप देश, काल, आकार से नियत होता है । विपरीत प्रतिभासित होने वाले भ्रान्त ज्ञान से उसका साक्षात्कार कैसे हो सकता है । इसे आचार्य ने भी कहा है—'अन्धकार का शीघ्र भ्रमण, नौका यान संक्षोभ आदि से अनाहित विभ्रम ज्ञान प्रत्यक्ष होता है ।'

इससे यह भी स्पष्ट किया गया है कि कामला रोग ग्रस्त का शुक्ल शंख में पीत प्रतिभासित होने वाला ज्ञान, भ्रम से अलात में चक्र आदि मालूम पड़ने वाला ज्ञान, चलती हुई नौका में बैठे हुए व्यक्ति को नौका की स्थिरता तथा वृक्ष आदि के चलने का ज्ञान, मर्मस्थल पर अधिक चोट से आहत व्यक्ति को जलता हुआ खम्भा दीखने का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। यह आशंका कि यदि भ्रमात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है तो उससे वस्तु की प्राप्ति कैसे होती है ? ठीक नहीं है क्योंकि उससे वस्तु की

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



## प्रत्यक्षस्यचातुर्विध्यम्:

तच्चतुर्विधं, इन्द्रियज्ञानं मानसं स्वसंवेदनं योगिज्ञानं चेति। चक्षुरादीन्द्रियपञ्चकाश्रयेणोत्पद्यमानं बाह्यरूपादिपञ्चविषयालम्बनमिन्द्रियप्रत्यक्षम्। तत्र चक्षुर्विज्ञानं रूपविषयम्। श्रोत्रविज्ञानं च शब्दविषयम्। घ्राणविज्ञानं गन्धविषयम्। जिह्वाविज्ञानं रसविषयम्। कायविज्ञानं स्पर्शविषयम्। इन्द्रियप्रत्यक्षमिति व्यपदेशस्यासाधारणकारणत्वं निमित्तम्। यथा भेरीशब्दो यवाङ्कुर इति। इदं च प्रत्यक्षं यत्रैव स्वानुरूपं विकल्पं जनयति तत्रैव प्रमाणम्, सांव्यवहारिकप्रमाणाधिकारादिति॥

---

प्राप्ति होती ही नहीं। तब क्या होता है? कुछ लोग अन्य ज्ञान से वस्तु का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं।

## प्रत्यक्ष के चार प्रकार :

वह (प्रत्यक्ष) चार प्रकार का होता है। इन्द्रिय ज्ञान, मानस, स्वसंवेदन, तथा योगिज्ञान। चक्षु आदि पांच इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला बाह्य रूप आदि पांच विषयों पर आधारित ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इनमें चक्षु विज्ञान रूप विषयक होता है। श्रोत्र विज्ञान का विषय शब्द होता है। घ्राण विज्ञान का विषय गन्ध होता है। जिह्वा विज्ञान का विषय रस होता है। कायविज्ञान का विषय स्पर्श होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष इस नाम का असाधारण कारण निमित्त है जैसे भेरी शब्द और जौ के अंकुर आदि में निमित्त भेरी और जौ है। (अर्थात् इन्द्रिय के असाधारण कारण होने से इन सभी ज्ञानों को इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है, जैसे भेरी से उत्पन्न शब्द को भेरी शब्द और जौ से उत्पन्न अंकुर को जौ का अंकुर कहा जाता है)। यह प्रत्यक्ष जहाँ अपने अनुरूप विकल्प उत्पन्न करता है वहीं प्रमाण होता है। क्योंकि प्रमाण का अधिकार व्यावहारिक व्यवहार तक ही है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं मनोविज्ञानं मानसम्। स्वशब्देनेन्द्रियज्ञानमभिमतम्, स्वस्य विषयो बाह्यो घटादिः, स्वविषयस्यानन्तरः स्वविषयानन्तरः इन्द्रियज्ञानविषयादन्यो घटादिर्द्वितीयक्षणः। तेन सहकारिणा सह मिलित्वा, इन्द्रियज्ञानेनोपादानेन समनन्तरप्रत्ययसंज्ञकेन यज्जनितं तन्मानसं प्रत्यक्षमुच्यते। ततो यदुक्तं परेणात्र 'गृहीतग्राहित्व-मन्धबधिराद्यभावो योगिज्ञानस्यापि मानसत्वप्रसङ्गः अव्यवहारित्वं च इति' तन्निरस्तम्। तथा हि—द्वितीयक्षणग्रहणात् गृहीतग्राहित्वस्य निरासः। इन्द्रियज्ञानजनितं हि मानसम्। अन्धादीनां रूपादि-विषयालम्बनकमिन्द्रियज्ञानमेव नास्ति, कुतस्तज्जनितं मानसं भविष्यति? अतो नास्त्यन्धबधिराद्यभावदोषः। समनन्तरप्रत्यय-

---

(स्व) अपने विषय के अनन्तर विषय के सहकारी इन्द्रिय ज्ञान से समनन्तर प्रत्यय द्वारा उत्पन्न मनोविज्ञान मानस प्रत्यक्ष है। यहाँ स्व (अपने) शब्द से इन्द्रिय ज्ञान अभिमत है। स्वस्य अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान का विषय बाह्य घट आदि, स्व विषय के अनन्तर स्वविषयानन्तर कहा जाता है। अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान के विषयभूत घट आदि के अनन्तर द्वितीय क्षण में विद्यमान अन्य घट आदि। उस द्वितीय क्षण के घट रूप सहकारी कारण से मिलकर, इन्द्रिय ज्ञान रूप उपादान, जिसको समनन्तर प्रत्यय भी कहा जाता है, से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मानस प्रत्यक्ष कहलाता है। उक्त स्पष्टीकरण से प्रतिपक्ष द्वारा कथित गृहीत ग्राहित्व, अन्ध-बधिर आदि का अभाव, योगिज्ञान का मानसत्व आदि दोष एवं अव्यवहारिकता आदि के आक्षेप का खण्डन हो जाता है। जैसे द्वितीय क्षण के ग्रहण करने से गृहीतग्राहित्व दोष का निरास हो जाता है। अन्ध आदि में रूप आदि विषयों पर अवलम्बित इन्द्रिय ज्ञान ही नहीं है तो उससे उत्पन्न मानस ज्ञान कैसे होगा? इसलिए अन्ध बधिर आदि के अभाव का दोष नहीं होगा। समनन्तर प्रत्यय विशेषण दे

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



विशेषणेन मानसप्रत्यक्षप्रसङ्गो निरस्तः । समनन्तरप्रत्ययशब्दः स्वसन्तानवर्तिन्युपादानज्ञाने रूढ्या प्रसिद्धः । ततो भिन्नसन्तानवर्तियोगिज्ञानमपेक्ष्य पृथग्जनचित्तानां समनन्तरप्रत्ययव्यपदेशो नास्तीति । अव्यवहारित्वं पुनरस्य दूषणं नोपपद्यते, सूक्ष्मकालभावित्वेन पृथग्जनैर्दुर्लक्ष्यत्वात् । व्यवहाराङ्गत्वेन चानभ्युपगमात् । आगमप्रसिद्धं हि मानसप्रत्यक्षम् । न त्वस्य निश्चायकं किञ्चिदस्ति । यथोक्तं भगवता—'द्वाभ्यां भिक्षवो रूपं गृह्यते, कदाचित् चक्षुषा तदाकृष्टेन मनसा च' इति । ननु च व्यवहारानुपयुक्तमुपदर्शयितुं किं प्रयोजनम्, ईदृग्लक्षणयुक्तं यदि मानसं प्रत्यक्षं स्यात्, न कश्चिद्दोषः स्यादित्यागमस्यापि विशुद्धिरनेन प्रतिपादितेति प्रयोजनम् ॥

---

देने से योगि ज्ञान के मानस प्रत्यक्ष के दोष का निरास हो जाता है । समनन्तर प्रत्यय शब्द अपने अपने सन्तान ( प्रवाह ) में विद्यमान उपादान ज्ञान के लिये रूढि द्वारा प्रसिद्ध हो गया है। ऐसी स्थिति में भिन्न सन्तान ( प्रवाह ) में विद्यमान योगि के ज्ञान की अपेक्षा से सामान्य मनुष्यों के चित्त को समनन्तर प्रत्यय शब्द से सम्बोधित नहीं किया जा सकता । अव्यवहारित्व भी इसका दोष नहीं बन पाता है क्योंकि सूक्ष्म काल में होने के कारण यह सामान्य मनुष्यों को परिलक्षित नहीं हो पाता । और व्यवहार के अंग रूप से इसे माना भी नहीं जाता । मानस प्रत्यक्ष शास्त्र द्वारा ही प्रसिद्ध है । इस को निश्चय कराने वाला दूसरा कुछ नहीं है । जैसे भगवान् ने कहा है कि भिक्षु लोग दोनों से रूप का ग्रहण करते हैं कभी चक्षु से और कभी उसके द्वारा आकृष्ट मन से । यदि यह आशंका उठायी जाय कि व्यवहार में अनुपयुक्त इस मानस ज्ञान को दिखलाने का क्या प्रयोजन है ? तो कहना होगा कि यदि इस प्रकार के लक्षण से युक्त मानस प्रत्यक्ष होगा तो उसमें कोई दोष न होगा, इस प्रकार इससे आगम की विशुद्धि का प्रतिपादन हो जाता है और यही इसका प्रयोजन है ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

स्वसंवेदन = आत्मसंवेदन, स्वसंवित्ति: आत्मसंवित्ति



## चित्तचैत्तानां स्वसंवेदनत्वसमर्थनम्

सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम् । चित्तं वस्तुमात्रग्राहकं ज्ञानम् । चित्ते भवाः चैत्ताः, वस्तुनो विशेषरूपग्राहका सुखदुःखोपेक्षालक्षणाः । तेषां सर्वचित्तचैत्तानामात्मा संवेद्यते येन रूपेण तत्स्वरूपमात्मस्वरूपसाक्षात्कारित्वात् स्वसंवेदनं प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं चोच्यते । अत्र केचिदाहुः—न च चित्तचैत्तानां स्वसंवेदनं घटते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न च सुशिक्षितोऽपि नटवटुः स्वस्कन्धमारोढुं शक्नोति । न हि तीक्ष्णाऽप्यसिधारा स्वमात्मानं छिनत्ति । न हि प्रज्ज्वलितोऽपि वह्निस्कन्ध आत्मानं दहति । तथा चित्तचैत्तमपि कथमात्मानं वेदयतु ! वेद्यवेदकभावो हि कर्मकर्तृभावः । कर्मकर्तृत्वं च लोके भेदेनैव प्रसिद्धम्, वृक्षसूत्रधारयोरिव ।

## चित्त तौर चेत्त के स्व संवेदनत्व का समर्थयन

समस्त चित्त और चैत्तों का आत्मसंवेदन स्वसंवेदन है । चित्त वस्तु मात्र का ग्रहण करने वाला ज्ञान है । चित्त में उत्पन्न होने वाले चैत्त कहलाते हैं । वे वस्तुओं के विशेष रूप ग्रहण करने वाले सुख, दुःख और अपेक्षा रूप हैं । उन समस्त चित्त और चैत्तों के आत्मा ( वास्तविक स्वरूप ) का जिस रूप से ज्ञान होता है वह रूप अपने स्वरूप का साक्षात्कराने वाला होने के कारण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, कल्पना से अपोढ, अभ्रान्त ज्ञान कहलाता है ।

इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि चित्त और चैत्त को स्वसंवेदन मानना ठीक नहीं लगता क्योंकि अपने में क्रिया मानने में विरोध है । सुशिक्षित भी नट का लड़का अपने कंधे पर चढ़ने में समर्थ नहीं हो सकता । तेज से तेज तलवार अपने आप को काट नहीं सकती । प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला अपने को जला नहीं पाती । तब चित्त और चैत अपने आप को कैसे जान सकेंगे ? वेद्य वेदक-भाव सम्बन्ध अर्थात् वेद्य और वेदक होना कर्मकर्तृभाव सम्बन्ध है अर्थात् वेद्य कर्म है और वेदक कर्ता है, दोनों में कर्मकर्तृ भाव सम्बन्ध है ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



अत्रोच्यते—न कर्मकर्तृभावेन वेद्यवेदकत्वं ज्ञाने वर्ण्यते। किं तर्हि व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन। यथा प्रदीप आत्मानं प्रकाशयति तथा ज्ञानमपि जडपदार्थविलक्षणं स्वहेतोरेव प्रकाशस्वभावमुपजायमानं स्वसंवेदनं व्यवस्थाप्यते॥ तथा चोक्तम्—

"विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते।
इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडरूपता"। इति॥

अलङ्कारकारेणाप्युक्तम्—

कल्पितः कर्मकर्त्रादिः परमार्थो न विद्यते।
आत्मानमात्मनैवात्मा निहन्तीति निरुच्यते। इति॥

च चित्तचैत्तानां ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यत्वं युज्यते। तथा हि—न ावत्समानकालभाविना ज्ञानान्तरेण चित्तचैत्तं प्रकाश्यत इति घटते,

---

ाक में कर्म और कर्त्ता भिन्न रूप से ही माने जाते हैं जैसे वृक्ष और सूत्रधार। ाँ उत्तर पक्ष की ओर से यह कहा जाता है कि ज्ञान में वेद्य और वेदक ा निरूपण कर्म कर्त्ता के रूप में नहीं किया जाता अपितु व्यवस्थाप्य ार व्यवस्थापक के रूप में किया जाता है। जैसे प्रदीप अपने को प्रकाशित ता है उसी प्रकार ज्ञान भी जड़ पदार्थों से विलक्षण अपने कारण से ही ाशस्वरूप वाला उत्पन्न होता हुआ स्वसंवेदन की व्यवस्था करता है। ा भी गया है कि

'विज्ञान जड़रूपों से पृथक होकर ही उत्पन्न होता है। जो उनकी अजड़ ता (जड़ से भिन्नता) है वही उसकी आत्म संवेदना है।'

अलंकारकार ने भी कहा है :—

कर्म कर्त्ता आदि कल्पित है ये परमार्थ नहीं है। क्योंकि यह भी कहा ा है कि आत्मा अपने को (आत्मानं) अपने से (आत्मना) मारता है।

चित्त और चैत्त को किसी अन्य ज्ञान से प्रकाश्य मानना उचित नहीं है। कि :—समान काल में उत्पन्न किसी अन्य ज्ञान से चित्त और चैत्त को

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



उपकार्योपकारकत्वाभावात्, सव्येतरगोविषाणयोरिव। नापि भिन्न-कालभाविना, क्षणिकत्वात् प्रकाशितव्यस्यैवाभावात्। अपि च यदि ज्ञानं स्वसंवेदनं न स्यात्, तदा ज्ञातोऽर्थ इति दुर्घटः स्यात्, 'नागृहीत-विशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये वर्त्तते' इति न्यायात्। तथा हि-अर्थो विशेष्यः, ज्ञात इति विशेषणम्, ज्ञातो ज्ञानेन विशेषित इति। ज्ञानं चेत्स्वयं न बोधरूपेण प्रतीतं, तत्कथं ज्ञानेन विशेषितोऽर्थः प्रतीयताम्। न हि दण्डाग्रहणे दण्डिनो ग्रहणं युक्तिसङ्गतम्। यच्चोक्तं त्रिलोचनेन—"चक्षुषोऽग्रहणेऽपि चाक्षुषं रूपं यथा प्रतीयते, तथा ज्ञानानवबोधेऽपि ज्ञातोऽर्थ इति घटिष्यते" इति तदसाधु। प्रस्तुतेऽनुपयोगात्। न हि चक्षू रूपस्य विशेषणम्। किं तर्हि, चक्षुर्विज्ञानम्। ततश्चक्षुर्विज्ञाना-संवेदने कथं रूपं ज्ञायतामिति चोद्यमक्षतमेव॥

---

प्रकाशित मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में उन दोनों में (चित्तचैत्त और उसी काल में उत्पन्न अन्य ज्ञान) में उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध नहीं बन सकता जैसे एक काल में उत्पन्न गाय के बायें और दहिने सींग में उपकार्य उपकारक सम्बन्ध नहीं होता है। भिन्न काल में उत्पन्न ज्ञान द्वारा भी उसे प्रकाशित नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञान के क्षणिक होने के कारण उस समय में प्रकाशित होने वाले चित्त चैत्त का ही अभाव हो जाएगा। और भी, यदि ज्ञान स्वसंवेदन न होगा तो 'ज्ञात अर्थ' कहना भी कठिन हो जाएगा क्योंकि यह नियम है कि विशेषण को ग्रहण किये बिना बुद्धि विशेष्य के ग्रहण में प्रवृत्त नहीं हो सकती। यहाँ अर्थ विशेष्य है और ज्ञात विशेषण है और ज्ञात ज्ञान से विशेषित है। ज्ञान यदि स्वयं बोध रूप से प्रतीत नहीं हुआ तो ज्ञान से विशेषित अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकेगी।

दण्डज्ञान के बिना दण्डधारी का ज्ञान युक्तिसंगत नहीं होता। त्रिलोचन ने जो कहा कि चक्षु से ज्ञात न होने पर भी रूप जैसे चाक्षुप माना जाता है उसी प्रकार ज्ञान के अवबोध न होने पर भी ज्ञात अर्थ कहना संगत हो सकता है। यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में इसका उपयोग नहीं हो सकता। चक्षु रूप का विशेषण नहीं है। तब चक्षुविज्ञान क्या है? (यहाँ

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



यत्पुनर्ज्ञानस्य परोक्षत्व प्रतिपादनाय भट्टेनोक्तम्—यथा च रूपादि-प्रकाशान्यथानुपपत्त्या इन्द्रियसिद्धिः, तथा ज्ञानस्यापि सिद्धिरिति। तथा हि तत्र भाष्यम्—'न हि कश्चिदज्ञातेऽर्थे बुद्धिमुपलभते। ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति' इति। वार्त्तिकं च 'तस्य ज्ञानं तु ज्ञाततावशात्' इति। ज्ञातता च विषयप्राकट्यमुच्यते। तदपि चायुक्तम्। प्राकट्य-स्यापि ज्ञानात्पृथक्त्वे विषयरूपतायां व्यक्तौ जडरूपता, जडस्य प्रकाशायोगात्। विषयादर्थान्तरत्वे जडतायां तस्यापि स्वतः प्रकाशायोगात्। प्राकट्यान्तरेण तु प्रकाशनेऽनवस्था स्यात्। ज्ञान-स्वभावत्वे प्राकट्यस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गः। ततोऽवश्यं ज्ञानस्य

---

चक्षुविज्ञान का विशेषण है )। इसलिए चक्षुर्दिज्ञान के संवेदन न होने पर रूप को कैसे जाना जा सकता है? यह जो कहा गया है वह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है।

ज्ञान की परोक्षता के प्रतिपादन के लिए जो भट्ट ने कहा है कि जैसे रूप आदि का प्रकाश अन्यथा उपपन्न नहीं हो सकता है इसलिए इन्द्रिय की सिद्धि होती है उसी प्रकार ज्ञान की भी सिद्धि होती है। इसी सन्दर्भ में भाष्य में कहा गया है कि किसी को भी अज्ञात अर्थ में बुद्धि ( ज्ञान ) की उपलब्धि नहीं होती। ज्ञात अर्थ में तो अनुमान द्वारा बुद्धि ( ज्ञान ) की उपलब्धि होती है। वार्तिक में कहा गया है कि उसका ( ज्ञान का ) ज्ञान ज्ञातता के द्वारा होता है। विषय के प्राकट्य ( प्रकटता ) को ज्ञातता कहा जाता है। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्राकट्य को ज्ञान से पृथक् विषय रूप में स्वीकार करने पर उसे जड़ मानना होगा और जड़ मान लेने पर वह प्रकाश के अयोग्य होगा। यदि उसे विषय से अन्य माना जाय तो भी उस अन्य को जड़ मान लेने पर उसमें स्वतः प्रकाशरूपता नहीं रह सकेगी। यदि एक प्राकट्य का प्रकाश दूसरे प्राकट्य से माना जाय तो अनवस्था दोष होगा। प्राकट्य को ज्ञान स्वरूप मानने पर उसे परोक्ष मानना होगा। इसलिये अवश्य ही ज्ञान को स्व

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



स्वसंवेदनत्वमभिधेयम् । अनुभवप्रसिद्धं च स्वसंवेदनत्वं कथमपह्नूयेत ? तदुक्तम्—

'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्धयति' इति ।

अलङ्कारकारोऽप्याह—

'परोक्षं यदि तत् ज्ञानं ज्ञातमित्येव तत्कुतः ।
परोक्षस्य स्वरूपं कस्तस्य लक्षयितुं क्षमः ।।' इति ।।

ननु सर्वज्ञानानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वे घटोऽयमित्यादिविकल्पज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वं, पीतशङ्खादिज्ञानस्याभ्रान्तत्वं च कथं न भवेत् ? उच्यते-विकल्पज्ञानमपि स्वात्मनि निर्विकल्पमेव । घटोऽयमित्यनेन वाह्यमेवार्थं विकल्पयति, न त्वात्मानम् । तदुक्तम्—

शब्दार्थग्राहि यद्यत्र ज्ञानं तत्तत्र कल्पना ।

---

संवेदनशील कहाना चाहिए । ज्ञान की स्व संवेदनशीलता अनुभव से सिद्ध है फिर उसे छिपाया कैसे जा सकता है । कहा भी है ।

'ज्ञान के अप्रत्यक्ष होने पर अर्थदृष्टि ( अर्थ ज्ञान ) की प्रसिद्धि भी नहीं हो सकती ।'

अलंकारकारने भी कहा है कि:—

'वह ज्ञान यदि परोक्ष है तो उसे कैसे जाना जाता है। उस परोक्ष ज्ञान के स्वरूप को लक्षित करने में कौन समर्थ हो सकता है ।'

अब यहां यह पूर्व पक्ष उठाया जाता है कि समस्त ज्ञान में स्वसंवेदन प्रत्यक्षत्व मान लेने पर 'यह घट है' इस प्रकार के सविकल्प ज्ञान में निर्विकल्पकत्व तथा पीत शंख आदि ज्ञान में अभ्रान्तत्व क्यों नहीं हो जाता ? उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि सविकल्प ज्ञान भी अपने स्वरूप में निर्विकल्प ही है । 'यह घट है' इस ज्ञान के द्वारा बाध्य अर्थ का ही विकल्प होता है अपने स्वरूप का नहीं । यह कहा गया है :—

जहां पर जो शब्दार्थ का ग्रहण करने वाला है वहां वह कल्पना है । शब्दार्थ जिसका स्वरूप नहीं है इसलिए वहां उसे प्रत्यक्ष ( अध्यक्ष ) माना जाता है ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



स्वरूपं च न शब्दार्थं तत्राध्यक्षमतोऽभिलषम् । इति ॥
भ्रान्तमप्यात्मन्यभ्रान्तं स्वप्रकाशरूपेणैवावभासनात् । असद्विषयत्वाच्च भ्रान्तिरुच्यते । तदुक्तम्—

'स्वरूपे सर्वमभ्रान्तं पररूपेविपर्ययः' । इति ।
तस्मादन्यथा प्रकाशासिद्धेः यद्यमी प्रकाशन्ते, तदा स्वहेतोरेव प्रकाशस्वभावादुत्पन्नाः सन्तः प्रकाशन्त इति स्वीकर्तव्यम् ॥

## योगिप्रत्यक्षनिरूपणम्

भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति । योगः समाधिः, चित्तैकाग्रतालक्षणः । निश्शेषवस्तुतत्त्वविवेचिका प्रज्ञा । योगोऽस्यास्तीति योगी । योगिनो यत् ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् । कीदृशं तदिति चेत्, भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजम् । भूतार्थः प्रमाणोपपन्नार्थः । भावना

---

भ्रान्त ज्ञान भी अपने आप में अभ्रान्त ही होता है । क्योंकि उसका अवभास स्वप्रकाश रूप में ही होता है । विषय के न विद्यमान ( असत् विषयक ) होने से उसे भ्रान्ति कहा जाता है । इसे ही कहा गया है :—

अपने स्वरूप में सभी ज्ञान अभ्रान्त है पर रूप में ( विषय के सम्बन्ध में ) ही विपर्यय कहलाता है । इसलिये यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य प्रकार से ज्ञान की प्रकाशता की सिद्धि नहीं हो सकती और यदि ये ( ज्ञान ) प्रकाशित होते हैं तो प्रकाशस्वभाव वाले अपने कारण से उत्पन्न होकर ही ये प्रकाशित होते हैं । यही स्वीकार करना होगा ।

## योगिप्रत्यक्ष का निरूपण

भूतार्थ की भावना के प्रकर्षपर्यन्त से उत्पन्न योगिज्ञान भी प्रत्यक्ष है । योग चित्त की एकाग्रता रूप समाधि है । ( यह समाधि ) अशेष वस्तु के स्वरूप का विवेचन करने वाली प्रज्ञा है । योग ( प्रज्ञा ) जिसे प्राप्त हो गया है वह योगी है । योगी का जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है । वह ज्ञान कैसा है ? भूतार्थ की भावना के प्रकर्ष पर्यन्त से उत्पन्न है । प्रमाण से उपपन्न अर्थ भूतार्थ है । बार-बार चित्त

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



पुनः पुनश्चेतसि समारोपः। भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्ताज्जातं यद्विज्ञानं तत् कल्पनापोढमभ्रान्तम्। भूतार्थश्चतुरार्यसत्यम् दुःख-समुदयनिरोधमार्गसंज्ञकं, पञ्चस्कन्धस्वभावं क्षणिकशून्यनिरात्मक-दुःखादिरूपतया प्रतिपत्तव्यम्। यत्सत् तत् क्षणिकमित्याद्यनुमानेन प्रमाणोपपन्नमुपगन्तव्यमिति॥

ननु भावना विकल्पः, विकल्पश्चावस्तुविषयः, तत्कथं वस्तुनः स्फुटीभावो भवतु। कथं वा विकल्पो निर्विकल्पतां व्रजेत्? क्षणिकं च चित्तं कथमेकाग्रीभवति? विशेषश्च कस्य केन वा क्रियताम्? शरीरी च रागादिविरहान्मुक्तश्चेति सर्वमसंगतम्। अत्रोच्यते—अव-स्तुविषयोऽपि विकल्पो वस्त्वध्यवस्यतीति भावनातो वस्तुन एवात्र स्फुटीभावः। न च विकल्प एव निर्विकल्पकः, किं तु विकल्पान्निर्वि-कल्पकस्योदयः। अनुभवसिद्धं चैतत् भावयतां निर्विकल्पकप्रति-

---

में समारोप भावना है। भूतार्थ की भावना के प्रकर्ष पर्यन्त से जो विज्ञान उत्पन्न होता है वह कल्पना से अपोढ और अभ्रान्त ज्ञान है।

भूतार्थ चार आर्य सत्य हैं जिन्हें दुःख, (दुःख) समुदय, (दुःख) निरोध और दुःख-निरोध-मार्ग कहा जाता है। पञ्च स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) के स्वभाव को क्षणिक, शून्य, अनात्मक, दुःख आदि रूप से मानना चाहिए। 'जो सत् है वह क्षणिक है' इत्यादि को अनुमान प्रमाण से उपपन्न मानना चाहिए।

अब यहां पूर्व पक्ष उठाया जाता है कि भावना विकल्प रूप है। विकल्प वस्तु विषयक नहीं होता तब कैसे भावना द्वारा वस्तु का स्फुटीभाव होगा? और विकल्प कैसे निर्विकल्प हो जाएगा? क्षणिक चित्त एकाग्र कैसे होता है? किस में विशेषता किसके द्वारा की जाती है? शरीरी (आत्मा) रागादि से रहित होने के कारण मुक्त है यह सब असंगत है। उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि विकल्प वस्तु विषयक न होता हुआ भी वस्तु का निश्चय कराता है इस भावना से इस में वस्तु का ही स्फुटीभाव होता है। विकल्प ही निर्विकल्प नहीं है अपितु विकल्प से निर्विकल्प का उदय होता है। निर्विकल्पक प्रतिभास

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



भासनं, कामशोकादिवत्। न हि दृष्टे किञ्चिदनुपपन्नं नाम। क्षणिकमपि चित्तं सजातीयक्षणेषु ग्रहणप्रवीणत्वात् एकाग्रमुच्यते। क्षणिकत्वेनैव विशेषोत्पत्तिः, न तु नित्यत्वेन, नित्यस्यानाधेयातिशयत्वात्। यदुक्तम्—

'नित्यं तमाहुर्विद्वांसो यत्स्वभावो न नश्यति।
तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता॥
नित्यत्वादचिकित्सस्य कस्तां क्षपयितुं क्षमः' ॥ इति ॥

यत्तु शरीरित्वे सुखदुःखयोर्भावादनुग्रहनिग्रहात् शरीरी रागादिविरहान्मुक्तश्चेति विघटनमुक्तं, तदयुक्तम्। न हि शरीरं रागादिहेतुः, किं तु अविद्या। अनित्ये नित्यमिति, अनात्मन्यात्मेति, दुःखे

---

की भावना करने वाले लोगों को काम-शोक आदि के समान यह अनुभवसिद्ध है। प्रत्यक्ष सिद्ध के विषय में अनुपपत्ति नाम की कोई चीज नहीं होती। क्षणिक चित्त को भी सजातीय क्षणों में ग्रहण करने में अत्यन्त प्रवीण होने के कारण एकाग्र कहा जाता है। क्षणिक होने के कारण ही विशेष की उत्पत्ति होती है नित्य होने के कारण नहीं। नित्य में किसी प्रकार के अतिशय (विशेषता) का आधान संभव नहीं। जिसे कहा गया है कि :

"विद्वानों ने नित्य उसे कहा है जिसका स्वभाव नष्ट नहीं होता है। उसकी शक्ति या अशक्ति जो भी है वह उसमें स्वभाव से ही है। अचिकित्स (ऐसी वस्तु जिसकी चिकित्सा न हो सके) के नित्य होने के कारण उसको नष्ट करने में कौन समर्थ हो सकता है।"

जो यह दोष दिया गया है कि शरीरी होने पर सुख-दुःख का अस्तित्व या अनुग्रह और निग्रह होने के कारण, शरीरी (आत्मा) रागादि रहित होने के कारण मुक्त है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि रागादि का कारण शरीर नहीं किन्तु अविद्या है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



सुखमिति, अशुचौ शुचितेति, चतुर्विपर्यासस्वभावा मिथ्योपलब्धिः। अत एव विषयसुखतृष्णा स्यात्। आत्मानं नित्यं पश्यत एव सुखाभिकाङ्क्षणादिसुखहेतुरात्मीयः स्यात्। एषु चाऽऽसङ्गो रागः। एतत्प्रतिबन्धाश्च द्वेषादयः। तस्मादविद्यैव मूलं रागादेर्न तु शरीरम्। सत्यपि शरीरे यद्यविद्या न स्यात्, कुत एव रागादियोगाः ? तस्माज्जीवच्छरीरे सत्यपि अविद्याविरहात् सर्वसङ्गविरहलक्षणा मुक्तिर्वीतरागाणां भवतीति सर्वं सुस्थितम्।

## प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वसमर्थनम्

तस्य विषयः स्वलक्षणम्। तस्य चतुर्विधस्य प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषयो बोद्धव्यः। स्वलक्षणमित्यसाधारणं वस्तुस्वरूपं देशकाला-

---

अविद्या अनित्य में नित्यज्ञान, अनात्मा में आत्म ज्ञान, दुःख में सुख ज्ञान, अशुचि में शुचि ज्ञान इन चार प्रकार का विपर्यय रूप मिथ्या ज्ञान है। इसलिए विषय सुख की तृष्णा होती है। आत्मा को नित्य समझने वाले को ही सुख की अभिलाषा से सुख के कारणों में आत्मीय (अपनापन) भाव हो जाता है। आत्मीय वस्तुओं में आसक्ति ही राग है। द्वेष आदि अन्य दोष इन राग के कारण ही होते हैं इसी से प्रतिबद्ध हैं। इसलिए राग आदि का मूल अविद्या है शरीर नहीं। शरीर न रहने पर भी यदि अविद्या न हो तो राग आदि का सम्बन्ध कहाँ से होगा। इसलिये जीवित शरीर रहने पर भी अविद्या के न रहने पर समस्त आसक्ति के अभाव रूप मुक्ति वीतराग लोगों को होती है यह बिल्कुल स्पष्ट है।

### प्रत्यक्ष के स्वलक्षण विषयत्व का समर्थन

उसका (प्रत्यक्ष का) विषय स्वलक्षण होता है। उक्त चारों प्रकार के प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है यही मानना चाहिये। देश, काल, आकार आदि से निश्चित एवं नियत, असाधारण वस्तु रूप स्वलक्षण होता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



कारनियतम् । एतेनैतदुक्तं भवति—घटादिरुदकाद्याहरणसमर्थो देशकालाकारनियतः पुरः प्रकाशमानोऽनित्यत्वाद्यनेकधर्मान्तरोदासीनः प्रवृत्तिविषयसजातीयविजातीयव्यावृत्तः स्वलक्षणमित्यर्थः। ननु यदि स्वलक्षणमेव प्रत्यक्षस्य विषयो न सामान्यं तदानीं धूमदहनसामान्ययोर्व्याप्तिः कथं प्रत्यक्षेण गृह्यताम् ? नायं दोषः। यतोऽयोगव्यवच्छेदेन स्वलक्षणं तस्य विषय एव, न त्वन्ययोगव्यवच्छेदेन स्वलक्षणमेव तस्य विषयः इति। किं तर्हि, सामान्यमप्यस्य विषयः।

## प्रमाणफलव्यवस्था

द्विविधो हि प्रमाणस्य विषयः ग्राह्योऽध्यवसेयश्च। तत्र प्रत्यक्षस्य प्रतिभासमानं स्वलक्षणं एको ग्राह्यः। अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षपृष्ठ-

---

इससे यह स्पष्ट किया जाता है कि घट आदि जल आदि को निकालने तथा धारण करने में समर्थ, देश, काल आकार आदि से नियत, सामने दीखने वाला, अनित्यत्व आदि अनेक धर्मों से युक्त, उदासीन, प्रवृत्ति के विषय में सजातीय विजातीय भेद से व्यावृत्त स्वलक्षण है। जब यहाँ यह आशंका की जाती है कि यदि स्वलक्षण ही प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्य उसका विषय नहीं है तो धूम सामान्य में अग्नि सामान्य की व्याप्ति का ग्रहण कैसे होगा। उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि अयोग व्यवच्छेद-रूप से ( अप्राप्त के प्रतिषेध रूप ) स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय ही है। किन्तु अन्य योग व्यवच्छेद रूप से ( अन्य समस्त प्राप्त के प्रतिषेध रूप से ) केवल स्वलक्षण ही उसका विषय नहीं है। तब क्या है ? सामान्य भी उसका विषय है।

## प्रमाण फल व्यवस्था

प्रमाण का विषय दो प्रकार का होता है—ग्राह्य तथा अध्यवसेय। इसमें प्रतिभासित होने वाला स्वलक्षण ही प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



भाविनो विकल्पस्य प्रतिभासमानं सामान्यमेव। तच्च सामान्यं द्विविधं, ऊर्ध्वतालक्षणं तिर्यग्लक्षणं चेति। तत्रैकस्यामेव घटादिव्यक्तौ सजातीयव्यावृत्तायामनेकक्षणसमुदायः सामान्यं ऊर्ध्वतालक्षणं साधन-प्रत्यक्षस्य विषयः। विजातीयव्यावृत्तास्त्वनेकव्यक्तयः तिर्यक्सामान्यं व्याप्तिग्राहकप्रत्यक्षस्य विषयः। अनुमानस्य तु सामान्यं ग्राह्यं, अध्यवसायस्तु स्वलक्षणमेव। प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयप्रतिपादनेन परोक्ताः षट्पदार्था न विषया इत्युक्तम् यथा-अवयविद्रव्यं, गुणः, कर्म, सामान्यं, विशेषः, समवायश्चेति। न चेषां प्रत्यक्षे ज्ञाने प्रतिभासोऽस्ति। न चाप्रतिभासमानो विषयो युज्यते, अतिप्रसङ्गात्। तथा हि—घटादौ परिदृश्यमाने पूर्वापरादिभागं विहाय नान्यत्किञ्चिदेकमवयविद्रव्यमुपलभामहे। यदाह न्यायपरमेश्वरः—

प्रत्यक्ष के पीछे होने वाले विकल्प का प्रतिभास मान सामान्य ही अध्यवसेय विषय है। वह सामान्य दो प्रकार का होता है—उर्ध्वता लक्षण और तिर्यक लक्षण। इनसे एक ही घट आदि व्यक्ति में, जो सजातीय घटादि से व्यावृत है, अनेक क्षणों का समुदाय जो उर्ध्वता लक्षण सामान्य है वह साधन प्रत्यक्ष का विषय है। विजातीय वस्तु से भिन्न जो अनेक व्यक्ति ( अनेक घट ) तिर्यक् सामान्य हैं वह व्याप्ति ग्राहक प्रत्यक्ष के विषय हैं। अनुमान का ग्राह्य सामान्य होता है और अध्यवसाय स्वलक्षण होता है। स्वलक्षण को प्रत्यक्ष का विषय प्रतिपादित करने से अन्य मत में निर्दिष्ट षट् पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, यह भी स्पष्ट हो जाता है जैसे अवयवी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय। इन पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है। जो प्रतिभासित नहीं होता है उसको विषय मानना संगत नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से अतिव्याप्ति दोष होगा। जैसे कि :—दिखलायी पड़ने वाले घट आदि के पूर्व एवं अपर भाग को छोड़ कर अन्य कोई अवयवी द्रव्य उपलब्ध नहीं होता। न्यायपरमेश्वर ने यही कहा है कि :—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



'भागा एव हि भासन्ते सन्निविष्टास्तथा तथा ।
तद्वान्नैव पुनः कश्चिद्विभागः सम्प्रतीयते ॥' इति ।

एवं गुणकर्मादीनां च दूषणं प्रत्येतव्यम् ॥

ननु प्रमितिरूपां क्रियां फलभूतां निष्पादयज्ज्ञानं प्रमाणमिति प्रसिद्धम् । तत्र काऽसौ प्रमितिः, यां जनयज्ज्ञानं प्रमाणमिति चेत्, उच्यते-इह नीलादेरर्थात् ज्ञानं द्विरूपमुत्पद्यते, नीलाकारं, नीलबोध स्वभावं च । तत्रानीलाकारव्यावृत्त्या नीलाकारं ज्ञानं प्रमाणम् । अनीलबोधव्यावृत्त्या नीलबोधरूपं प्रमितिः । सैव फलम् । यथोक्तम्—'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं, अर्थाधिगतिः प्रमाणफलम्' इति । एतच्च विकल्पप्रत्ययेन भिन्नं व्यवस्थाप्यते । परमार्थतस्तु नास्त्येव भेदः । यथोक्तम्—'तदेव प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम्' इति । 'साकारं चेदं ज्ञानमेष्टव्यम्' । यदि पुनः साकारं ज्ञानं नेष्यते, तदाऽनाकार-

---

"भिन्न भिन्न प्रकार से सन्निविष्ट भाग ही भासित होते है । तद्वान् (भाग वाला) कोई भी भासित नहीं होता है अपितु विभाग की ही सम्प्रतीति होती है ।"

फल भूत प्रमिति रूप क्रिया को निष्पादित करता हुआ ज्ञान प्रमाण होता है यह प्रसिद्ध है । इस में वह प्रमिति क्या है जिसको उत्पन्न करता हुआ ज्ञान प्रमाण होता है ? उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि—नील आदि अर्थ से ज्ञान दो रूप में उत्पन्न होता है : नीलाकार और नील बोध स्वभाव । इन में अनीलाकार की व्यावृत्ति के द्वारा नीलाकार ज्ञान प्रमाण होता है । अनीलबोध की व्यावृत्ति के द्वारा नील बोध रूप प्रमित होती है । वही फल है । जैसे कहा गया है—इनका अर्थ सारूप्य प्रमाण है और अर्थ की अधिगति फल है । यह विकल्प के प्रयत्न द्वारा भिन्न रूप में व्यवस्थित किया जाता है । परमार्थ रूप से इनमें भेद नहीं है । जैसे कहा गया है कि वहीं प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण और फल है । यह ज्ञान साकार होता है यह विचारणीय है । यदि ज्ञान को साकार नहीं माना जाएगा तो अनाकार होने से भी विषयों में समानता

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



त्वेन सर्वत्र विषये तुल्यत्वात् विभागेन विषयव्यवस्था न सिध्यति। यत्पुनः केचिदाहुः—पूर्वं ज्ञानं प्रमाणं उत्तरं ज्ञानं प्रमाणफलमिति, तन्न युक्तम्। तथाहिप्रथम क्षणभावि तावज्ज्ञानं प्रमाणफलभूतस्य द्वितीयज्ञानस्यानुत्पत्तेः। फलभूतज्ञानोत्पत्तौ च पूर्वस्य क्षणिकत्वेन विनाशात् कथं घटादिविषयं ज्ञानं प्रमाणं भवति? नापि समान-कालभावि ज्ञानं फलमुचितम्। उपकार्योपकारकत्वाभावात्, सव्येतरगोविषाणयोरिव। [ तस्मात् परमार्थतः प्रमाणफलयोर्नास्ति भेदः। काल्पनिकस्तु व्यावृत्तिकृतो भेदः विकल्पबुद्धौ व्यवस्था-प्यते ]॥

इति

तर्कभाषायां प्रत्यक्षपरिच्छेदः॥

---

होने के कारण विभाग के द्वारा विषय की व्यवस्था की सिद्धि नहीं हो सकती। कुछ लोगों का कहना है कि पूर्व ज्ञान प्रमाण होता है और उत्तर ज्ञान फल। किन्तु यह संगत नहीं है। क्योंकि प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाले ज्ञान के समय तक प्रमाण का फलभूत द्वितीय ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता और फल-भूत ज्ञान के उत्पन्न होने पर क्षणिक होने के कारण प्रथम ज्ञान का विनाश हो जाता है ऐसी स्थित में घट आदि का ज्ञान कैसे प्रमाण हो सकेगा?

समान काल में ही उत्पन्न ज्ञान को फल मानना भी उचित न होगा क्योंकि उन में उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध नहीं रहेगा जैसे गाय के बायें और दायें सींग में। [ इसलिए परमार्थ रूप में प्रमाण और फल में भेद नहीं है। दोनों में काल्पनिक भेद व्यावृति के आधार पर विकल्प बुद्धि में किया जाता है।

तर्कभाषा का प्रत्यक्ष परिच्छेद समाप्त।

—× × ×—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

# स्वार्थानुमानम्

## अनुमानस्य द्वैविध्यम् : स्वार्थानुमानलक्षणम्

अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। स्वस्मै यत्तत् स्वार्थमनुमानं ज्ञानात्मकम्। पर्वतादौ धर्मिणि धूमादिकं दृष्ट्वा यस्य प्रतिपत्तुः वह्निज्ञानमुत्पद्यते, स एव तेन ज्ञानेन परोक्षमर्थं प्रतिपद्यते नान्य इति स्वार्थानुमानमुच्यते। परस्मै यत्तत् परार्थम्। परार्थानुमानं वचनात्मकम्। त्रिरूपलिङ्गप्रतिपादकं वचनं परं प्रतिपादयति ज्ञापयतीति कृत्वा वचनमप्यनुमानशब्देनोच्यते, उपचारात्, यथा आयुर्घृतमिति। तत्र स्वार्थं त्रिरूपलिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानम्। रूपत्रय-

---

## अनुमान के दो प्रकार : स्वार्थानुमान के लक्षण

अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जो अपने लिए होता है वह स्वार्थानुमान है, ज्ञान रूप है। पर्वत आदि पक्ष में धूम आदि हेतु को देखकर देखने वाले को अग्नि आदि साध्य का ज्ञान उत्पन्न होता है। देखने वाले को ही इस ज्ञान से परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति होती है दूसरे को नहीं इसलिए इसे स्वार्थानुमान कहा जाता है। दूसरे के लिए जो अनुमान होता है वह परार्थानुमान है। परार्थानुमान वचनात्मक होता है। तीन रूप में लिंग का प्रतिपादन करने वाला वचन दूसरों को भी अर्थ का प्रतिपादन करता है और ज्ञान कराता है यह मान कर ही वचन को अनुमान से सम्बोधित किया जाता है। यह अनुमान शब्द का लाक्षणिक एवं गौण प्रयोग है जैसे घृत ही आयु है आदि वाक्यों में आयुवर्द्धक घृत में आयु शब्द का प्रयोग होता है। इसमें तीन रूप विद्यमान हेतु से अनुमेय विषयक ज्ञान स्वार्थानुमान है। तीन रूपों से युक्त हेतु से परोक्ष अनुमेय वस्तु का जो ज्ञान ज्ञाता को

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



युक्ताल्लिङ्गादनुमेये परोक्षविषये यत् ज्ञानं प्रतिपत्तुरुत्पद्यते, तत् स्वार्थानुमानम् । तच्च धर्मविशेषसम्बन्धितया साध्याविनाभावित्व-निश्चय इत्येके । अग्न्यध्यवसाय इत्यन्ये ।

## लिङ्गस्य त्रिरूपत्वम्

संप्रति लिङ्गस्य त्रिरूपत्वमुच्यते—अनुमेये सत्वमेव निश्चितम् । अनुमेये पर्वतादौ धर्मिणि लिङ्गस्यास्तित्वमेव निश्चितं, तदेकं रूपं पक्षधर्मतासंज्ञकम् । अत्र सत्वग्रहणेनासिद्धस्य निरासः, यथा—अनित्यश्शब्दश्चाक्षुषत्वात्, चाक्षुषत्वं चक्षुर्विज्ञानग्राह्यत्वमुच्यते, तच्च शब्दे धर्मिणि नास्ति । एवकारेण पक्षैकदेशासिद्धस्य निरासः, यथा दिगम्बरप्रयोगः—चेतनास्तरवः स्वापात् । पत्रसङ्कोचलक्षणो हि

---

उत्पन्न होता है वही स्वार्थानुमान है। उनको कुछ लोग धर्म विशेष से सम्बन्धित होने के कारण साध्य के अविनाभावित्व को निश्चय मानते हैं। और अन्य लोग अग्नि का निश्चय।

## लिंग ( हेतु ) की त्रिरूपता

इस समय हेतु के तीन रूप का निरूपण किया जा रहा है:—अनुमेय ( पक्ष ) में अस्तित्व का ही निश्चय होना चाहिए। अनुमेय अर्थात् पर्वत आदि पक्ष में हेतु के अस्तित्व का ही निश्चय रहना चाहिए, यह एक रूप है इसे पक्षधर्मता कहा जाता है। यहाँ सत्व के ग्रहण से असिद्ध का निराकरण किया गया है। जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुषत्व रहने के कारण। चाक्षुषत्व का अर्थ होता है चक्षुर्विज्ञान-ग्राह्यता ( अर्थात् चक्षुर्विज्ञान द्वारा गृहीत होने की योग्यता ), वह शब्द रूप पक्ष में नहीं है ( क्योंकि शब्द का ग्रहण चक्षु से न होकर श्रोत्र से होता है )। उक्त 'अस्तित्व ही' में अस्तित्व पर जोर देने के कारण ( एव कारेण ) पक्ष के एक देश में असिद्ध हेतु का निराकरण हो जाता है जैसे दिगम्बर जैनियों का प्रयोग है:—वृक्ष चेतनावान् हैं क्योंकि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



स्वापः, स च सर्वेषु तरुष्वसिद्धः। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धस्य निरासः, यथा—अग्निरत्र वाष्पादित्वेन सन्दिह्यमानाद्भूतसंघातात्। सत्वशब्दात्पश्चादेवकारेण असाधारणस्य निरासः, यथा—अनित्यश्शब्दः श्रावणत्वात् घटवत् ॥

सपक्ष एव सत्त्वं निश्चितमिति वर्तते। समानः पक्षः सपक्षः। पक्षेण सह सदृशो दृष्टान्तधर्मीत्यर्थः। सपक्ष एव सत्त्वं निश्चितमित्यन्वयसंज्ञकं द्वितीयं रूपम्। अत्र सत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः, यथा—शब्दो नित्यः कृतकत्वात् घटवत्। कृतकत्वं हि नित्यत्वविपक्षेणानित्यत्वेन व्याप्तमिति विरुद्धमुच्यते। एवकारेण साधारणस्य निरासः, यथा—नित्यश्शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्। प्रमेयत्वं हि

---

वे सोते हैं। पत्तों का संकुचित हो जाना ही सोना है किन्तु इस प्रकार पत्तों का संकोच सभी वृक्षों में सिद्ध नहीं हैं। 'निश्चय' कहने के कारण संदिग्ध असिद्ध हेतु का निराकरण हो जाता है जैसे यहाँ अग्नि है वाष्प आदि के द्वारा संदेह किये गये अद्भुत संघात से युक्त होने के कारण। सत्व शब्द के बाद में ही एव शब्द का प्रयोग होने के कारण असाधारण हेतु का निराकरण हो जाता है जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि उसका श्रवण प्रत्यक्ष होता है, घट आदि के समान।

सपक्ष में ही अस्तित्व का निश्चय होना चाहिए। समान पक्ष को सपक्ष कहते हैं। पक्ष के सदृश दृष्टान्त रूप धर्मी, इसका अर्थ होता है। सपक्ष में ही (हेतु के) अस्तित्व का निश्चय होना चाहिए यह अन्वय नामक हेतु का दूसरा रूप है। यहाँ अस्तित्व के ग्रहण से विरुद्ध का निराकरण किया गया है जैसे शब्द नित्य है क्योंकि घट आदि के समान उत्पन्न होता है। उत्पन्न होना नित्यत्व के विपक्षभूत अनित्यत्व से व्याप्त होने के कारण विरुद्ध कहलाता है। एव कार के द्वारा 'साधारण' का निराकरण किया गया है। जैसे शब्द नित्य है प्रमेय होने के कारण घट के समान। यहाँ प्रमेयत्व हेतु विकल्प में विपक्ष बनाया गया

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



विकल्पविषयीकृतत्वम्, तच्च सपक्षे आकाशे विपक्षे च घटादौ सर्वत्रास्तीति साधारणमुच्यते । सत्त्वशब्दात् पूर्वस्मिन्नेवकारेण सर्वसपक्षाव्यापिनोऽपि प्रयत्नानन्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम् । यथा—अनित्यश्शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्घटवद्विद्युद्वत् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धान्वयस्य निरासः, यथा—असर्वज्ञोऽयं कश्चित् वक्तृत्वादिष्ट-पुरुषवत् । इष्टपुरुषे सपक्षे च वक्तृत्वम्—सर्वज्ञत्वेन व्याप्तमव्याप्तं वा न ज्ञायते ॥

असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् । न सपक्षोऽसपक्षः । तत्रासत्त्व-मेव निश्चितं व्यतिरेकसंज्ञकं तृतीयं रूपम् । अत्राप्यसत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः । यथा नित्यश्शब्दः कृतकत्वाद्घटवत् । विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः । प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः अनित्यत्वाद्घटवत् । प्रयत्नानन्तरीयकत्वे

---

है । वह सपक्ष आकाश तथा विपक्ष घट आदि सभी में समान रूप से रहता है अतः उसे साधारण कहा जाता है । सत्त्व शब्द के पूर्व में ही 'एव' शब्द द्वारा बल देने के कारण सर्व सपक्ष में अव्याप्त रहने वाले तथा प्रयत्न के अनन्तर आने वाले की भी हेतुता का समर्थन किया गया है जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है घट के समान एवं विद्युत् के समान । निश्चित के ग्रहण से सन्दिग्ध अन्वय का निराकरण किया गया है जैसे यह कोई असर्वज्ञ है क्योंकि इसमें वक्तृत्व है । अभीष्ट व्यक्ति में तथा सपक्ष में वक्तृत्व सर्व-ज्ञत्वरूप साध्य का व्याप्त है या अव्याप्त, यह ज्ञात नहीं है ।

असपक्ष में असत्त्व का ही निश्चय होना चाहिए । जो सपक्ष से भिन्न है वह असपक्ष है । उस असपक्ष में असत्त्व ( हेतु के अस्तित्व का अभाव ) का निश्चय व्यतिरेक नामक हेतु का तीसरा रूप है । यहाँ पर भी असत्त्व के ग्रहण से विरुद्ध का निराकरण किया गया है जैसे शब्द नित्य है, उत्पत्तिमान् होने के कारण, घट के समान । विरुद्ध हेतु विपक्ष में रहता है । एव कार के द्वारा विपक्ष के एक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



साध्ये अनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति । आकाशादौ नास्ति । ततो नियमेनास्य निरासः । असत्त्ववचनात्पूर्वस्मिन्नवधारणे अयमर्थः स्यात् । विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि नास्ति, ततो न हेतुः स्यात्, ततः पूर्वं न कृतमिति । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकस्य निरासः । यथाऽवीतरागोऽयं पुरुषो वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवत् । यत्रावीतरागत्वं नास्ति तत्र वक्तृत्वमपि, नास्ति, यथोपलखण्डे । यदि नाम पाषाणखण्डादुभयं व्यावृत्तं तथापि न ज्ञायते किमवीतरागत्वनिवृत्त्या पाषाणखण्डाद्वक्तृत्वं निवृत्तं, आहोस्वित् स्वत एवेति । ततः सन्दिग्धव्यतिरेकोऽयमनैकान्तिकः । असत्त्वशब्दात्पश्चादेवकारेण विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः । यथा—प्रयत्नानन्तरीयकश्शब्दोऽनित्यत्वात् । अनित्यत्वं

---

देश में रहने वाले साधारण का निराकरण हो जाता है। शब्द प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने वाला है क्योंकि अनित्य है, घट के समान। प्रयत्नानन्तरीयकत्व ( प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति होना ) के साध्य रहने पर अनित्यत्व हेतु विपक्ष के एक देश विद्युत् आदि में भी है; और आकाश आदि में नहीं है। इस तरह नियम से ही इसका निराकरण हो जाता है। असत्त्व कथन के पूर्व ही अवधारण ( जोर देने ) से यह अर्थ होगा कि विपक्ष में ही जो न हो वह हेतु है। ऐसा होने से प्रयत्नानन्तरीकत्व जो सपक्ष में भी नहीं है हेतु नहीं हो सकेगा इसलिए 'एव कार' पूर्व में नहीं किया गया है। निश्चित ग्रहण करने से सन्दिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक ( जिसके विपक्ष में न रहने का सन्देह हो ) हेतु का निराकरण हो जाता है जैसे यह पुरुष अवीतराग है वक्ता होने के कारण रथ्यापुरुष के समान। यद्यपि पाषाण के खण्ड से दोनों व्यावृत्त हैं फिर भी यह ज्ञात नहीं होता कि वीतरागत्व की निवृत्ति होने से पाषाण खण्ड से वक्तृत्व निवृत्त है या स्वतः ही। इस प्रकार यह सन्दिग्ध व्यतिरेक अनैकान्तिक है। असत्त्व शब्द के बाद में 'एव कार' होने से विपक्ष के एक देश वृत्ति हेतु का निराकरण हो जाता है। जैसे शब्द प्रयत्नानन्तरीक है अनित्य होने के कारण। यहाँ अनित्यत्व हेतु विपक्ष रूप

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



विपक्षादाकाशान्निवृत्तं, न विद्युतः। ततो विपक्षैकदेशवृत्तित्वमस्य॥

ननु सपक्ष एव सत्त्वमित्युक्ते सामर्थ्यादेवासपक्षे चासत्त्वमिति गम्यते। तत्किमर्थमुभयोरुपादानमिति चेत्, विपक्षनियमार्थमिति पूर्ववृद्धाः। ते च त्रिविध एव विपक्षो भवतीति मन्यन्ते। साध्याभावमात्रं, साध्यादन्यः, साध्येन सह विरुद्धश्च। प्रयोगनियमार्थमिति केचित्। अन्वयप्रयोगो व्यतिरेकप्रयोगो वा नियमवानेकः प्रयोक्तव्यो न द्वावपीति। साधर्म्यवैधर्म्यप्रयोगसूचनार्थमिति केचित्।

## कार्यस्वभावानुपलब्धिहेतोर्निरूपणम्

त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि। त्रीणि रूपाणि येषां तानि त्रिरूपाणि त्रीण्येव लिङ्गानि। कार्यं त्रिरूपं लिङ्गम्। स्वभावस्त्रिरूपं

---

आकाश आदि से व्यावृत्त होने पर भी विद्युत् आदि से व्यावृत्त नहीं है। इस लिए इसमें विपक्ष के देश में वृत्तिता है।

अब यहाँ आशंका कि जाती है कि सपक्ष में ही सत्व हो इस कथन के सामर्थ्य से ही असपक्ष में असत्व का बोध हो जाता है तब किस लिए दोनों का निर्देश किया गया है? ( इसके उत्तर के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं )। पूर्व वृद्ध विचारकों के अनुसार उक्त कथन विपक्ष के नियमन के लिए किया गया है। वे लोग यह मानते हैं कि विपक्ष तीन प्रकार का ही होता है—साध्याभावमात्र, साध्य से भिन्न और साध्य का विरुद्ध। कुछ लोगों के अनुसार उक्त कथन प्रयोग के नियमन के लिए है। अन्वय प्रयोग अथवा व्यतिरेक प्रयोग नियम वाले को किसी एक का ही प्रयोग करना चाहिए दोनों का नहीं। कुछ लोग साधर्म्य वैधर्म्य के प्रयोग की सूचना के लिए उक्त कथन को महत्व देते हैं।

## कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि के हेतुत्व का निरूपण

तीन रूप का अर्थ है तीन लिङ्ग है। तीन रूप हो जिनके वे त्रिरूप हैं अर्थात् तीन ही लिङ्ग हैं। कार्य त्रिरूपलिङ्ग है। स्वभाव त्रिरूप लिङ्ग

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



लिङ्गम्। अनुपलब्धिस्त्रिरूपं लिङ्गम्। साधनं ज्ञापकं हेतुर्व्याप्यं चेति लिङ्गापरनामानि। तत्र कार्यं यथा—यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसे, धूमश्चात्रेति। व्याप्तिपक्षधर्मतासंज्ञकं द्व्यवयवमेव साधनवाक्यं सौगतानाम्। अन्ये तु प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनं चेति पञ्चावयवं साधनवाक्यमाहुः। उपन्यासश्चेदृशः—अग्निरत्र, धूमात्, यत्र-धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसे, तथा चायं, तस्मादग्निरिति। एतच्चायुक्तम्। प्रतिज्ञावचनमात्रात्सम्बन्धरहितात् साध्यप्रतिपत्तेरयोगात्। सम्बन्धाभावस्तु शब्दार्थयोः सम्बन्धदूषणे प्रतिपादितत्वान्न पुनरुच्यते। प्रतिज्ञामन्तरेण पञ्चम्यन्तहेतुप्रयोगोऽप्ययुक्तः। हेतुं विनोपनयदृष्टान्तावप्ययुक्तौ। यत्र प्रतिज्ञैव नास्ति तत्र प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं कुतो भविष्यतीति सर्वमामूलं विशीर्णम्। अयं च कार्यहेतुर्विषय

---

है। अनुपलब्धि त्रिरूप लिङ्ग है। साधन, ज्ञापक, हेतु, व्याप्य आदि लिङ्ग के अन्य नाम हैं। इसमें कार्य, जैसे—जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है जैसे रसोई घर, धूम यहाँ है। व्याप्ति पक्ष-धर्मता नामक दो ही साधन वाक्य सौगत मत में मान्य हैं। अन्य लोग (नैयायिक) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पंचावयव साधन वाक्य मानते हैं। इनका उपन्यास इस प्रकार है। यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है; जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है जैसे पाकशाला; उसी प्रकार यहाँ (धूम) है इसलिए यहाँ अग्नि है। किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि सम्बन्ध रहित प्रतिज्ञा मात्र के निर्देश से साध्य का ज्ञान संभव नहीं। सम्बन्धाभाव का प्रतिपादन शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के दोष विचार के प्रसंग में किया जा चुका है। इसलिए पुनः उसे नहीं कहा जा रहा है। प्रतिज्ञा के विना पञ्चमी विभक्ति से युक्त हेतु का प्रयोग भी उपयुक्त नहीं है। हेतु के विना उपनय तथा दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं है। जहाँ प्रतिज्ञा ही नहीं है वहाँ प्रतिज्ञा का पुनः निरूपण रूप निगमन कैसे हो सकेगा। इस प्रकार सब कुछ जड़ से ही समाप्त हो जाता है। यह कार्य रूप हेतु विषय के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



भेदेन त्रिविधः। अग्न्यादौ साध्ये धूमादिः त्रिविधप्रत्यक्षानुपलम्भेन निश्चेतव्यः। चक्षुरादौ साध्ये ज्ञानं कादाचित्ककार्योत्पादान्निश्चीयते। रूपादौ साध्ये रसादिरेकसामग्र्यधीनतया निश्चीयते। यथा मातुलुङ्गफले रसाद्रूपानुमानम्। न रूपाद्रसानुमानम्। अत्र रूपे जनयितव्ये पूर्वकं रूपमुपादानम्। रसस्तु सहकारिकारणम्। पूर्वपुञ्जादुत्तरपुञ्जस्योत्पत्तौ न्याय एषः। ननूपादानसहकारिकारणयोरन्वयव्यतिरेकानुविधानस्य कार्यं प्रति तुल्यत्वात्को भेदः? उच्यते। यद्विक्रियया यन्निष्पत्तिरेकसन्ताने तत्कार्यं प्रति पूर्वकमुपादानम्। यत्सन्तानान्तरे विशेषोदयनिमित्तं तत्सहकारिकारणम्। यथा शाल्यंकुरे जनयितव्ये शालिबीजमुपादानम्, क्षितिसलिलादि तत्र सहकारि। तदेवं कार्यहेतुस्तदुत्पत्तिसम्बन्धात् गमक इति स्थितम्॥

---

भेद से तीन प्रकार का होता है। अग्नि आदि के साध्य होने पर धूम आदि हेतु तीन प्रकार के प्रत्यक्ष के अनुपलम्भ से निश्चित किया जाता है। चक्षु आदि के साध्य होने पर ज्ञान कभी-कभी कार्य की उत्पत्ति करने के कारण निश्चित किया जाता है। रूप आदि के साध्य होने पर रस आदि एक सामग्री के अधीन होने के कारण निश्चित किये जाते हैं। जैसे मातुलुङ्ग के फल में रस से रूप का अनुमान होता है। रूप से रस का अनुमान नहीं होता। यहाँ रूप की उत्पत्ति में पहले के रूप उपादान कारण हैं रस तो सहकारी कारण है। पूर्व पुञ्ज से उत्तर पुञ्ज की उत्पत्ति में भी यही न्याय है। यहाँ यह प्रश्न किया जाता है कि उपादान और सहकारी कारणों में अन्वय और व्यतिरेक का समान उपयोग होने से दोनों ही कार्य के लिए समान हैं तो दोनों में भेद क्या है? उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि जिनकी विकृति के कारण एक ही सन्तान में जिनकी उत्पत्ति होती है उस कार्य के प्रति वह उपादान कारण है। जैसे धान के अंकुर को उत्पन्न करने में धान का बीज उपादान कारण है और मिट्टी-पानी आदि उसमें सहकारी कारण हैं। तब इस प्रकार कार्य हेतु उत्पत्ति सम्बन्ध से साध्य का साधक होता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



स्वभावो यथा—स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे यो हेतुरुच्यते स तस्य साध्यस्य धर्मस्य स्वाभावो बोद्धव्यः। यथा—वृक्षव्यवहारयोग्योऽयं शिशपाव्यवहारयोग्यत्वात्। अयमिति पुरः परिदृश्यमानः पदार्थो धर्मी। शिशपाव्यवहारयोग्यत्वादिति हेतुः। शिशपाव्यवहारयोग्यत्वादिति कोऽर्थः? शाखापत्रवर्णसंस्थानविशेष-व्यवहारयोग्यत्वादित्यर्थः। वृक्षव्यवहारयोग्यत्वं साध्यम्। नन्वेकत्वे साध्यसाधनभावो न युक्तः, प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात्। न। अभेदेऽपि कश्चित्प्रतिपत्ता शिशपाव्यवहारं कृत्वा तत्र वृक्षव्यवहारं प्राक् कृतमपि व्यामोहात् किञ्चिदारोप्य पुनर्न करोति। स इदानीं स्वभावहेतुना व्यवहार्यते। तस्मादेतयोः परमार्थत एकत्वेऽपि विकल्प-बुद्धौ व्यावृत्तिसमाश्रयेण समुत्पन्नायां भेदेन प्रतिभासनात् साध्यसा-धनत्वं न विरुध्यत इति॥

---

स्वभाव : जैसे—स्वभाव अर्थात् अपने सत्ता मात्र तक रहने वाले साध्य धर्म में जो हेतु कहा जाता है उसे उस साध्य धर्म का स्वभाव समझना चाहिए। जैसे यह वृक्ष व्यवहार योग्य है क्योंकि यह शिशपा (नीम) व्यवहार योग्य है। यह (अयम्) अर्थात् सामने दीखने वाला पदार्थ धर्मी। शिशपा- व्यवहार योग्य होना हेतु है। शिशपा व्यवहार योग्य होने का अर्थ क्या है? शाखा, पत्ते, वर्ण, आकार विशेष से व्यवहार योग्य होना इसका अर्थ है। वृक्ष व्यवहार योग्यत्व साध्य है। यह आशंका की जाती है कि एक को ही साध्य और साधन मानना उचित नहीं है क्योंकि वह प्रतिज्ञार्थ का ही एक देश होता है। उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि उक्त आशंका ठीक नहीं है। जैसे कोई ज्ञाता अभेद रहने पर भी शिशपा व्यवहार के उपरान्त पहले वृक्ष का व्यवहार किये रहता है किन्तु व्यामोह वश किसी चीज के आरोप से वह पुनः वैसा व्यवहार नहीं करता। वह ऐसे अवसर पर स्वभाव हेतु के द्वारा अनुमान करके व्यवहार करता है। इसलिए इन दोनों को परमार्थतः एक होने पर भी व्यावृत्ति के कारण उत्पन्न विकल्प बुद्धि में भिन्न रूप से प्रतिभासित होने के कारण साध्य मानने में कोई विरोध नहीं होता।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



अनुपलब्धिर्यथा—नास्तीह प्रदेशे घटः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः। उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येति दृश्यस्येत्यर्थः। नन्वसतः कथं दृश्यता? एकेन्द्रियज्ञानग्राह्ये प्रदेशादावुपलभ्यमाने यदि घटः स्यात् दृश्य एव भवेदिति। उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यात् दृश्यतया सम्भावितः, न तु दृश्य एव। तस्यानुपलब्धेरिति हेतुः। स चैकज्ञानसंसर्गिपदार्थादिकज्ञानसंसर्गिपदार्थोपलम्भाद्वा निश्चीयत इति तदुभयं कर्मकर्तृभावेन पर्युदासवृत्त्या अनुपलब्धिरुच्यते, न तु प्रसज्यवृत्त्या उपलब्धिनिवृत्तिमात्रम्। तद्धि स्वयमेव न किञ्चिदिति कथं साधनं स्यात्। नापि प्रतिषेध्यादन्यस्य ज्ञानमात्रम्, रूपोपलम्भादपि नारङ्गरसनिषेधप्रसङ्गात्। तस्मान्निषेध्यादन्यद्विशिष्टमेव वस्तुद्वयं प्रदेशः प्रदेशज्ञानं वाऽनुपलब्धिरिति स्थितम्। अत एवाभावो न साध्यते। तस्य घटविविक्तप्रदेशग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव सिद्धत्वात्।

---

अनुपलब्धि, जैसे—इस स्थान पर घट नहीं है क्योंकि उपलब्धि के लक्षणों से युक्त घट की उपलब्धि नहीं हो रही है। उपलब्धि-लक्षण से युक्त का अर्थ है दृश्य या दिखलायी पड़ने योग्य। अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि असत् वस्तु की दृश्यता कैसे हो सकती है? एक इन्द्रिय से ग्राह्य स्थान के उपलब्ध हो जाने पर यदि घट है तो दृश्य ही होगा। उपलब्ध अन्य प्रत्ययों की सम्पूर्णता से दृश्य रूप से सम्भावना होती है यह निश्चय नहीं होता कि दृश्य ही है। उसी दृश्य रूप से सम्भावित की अनुपलब्धि ही हेतु है। वह एक ज्ञान से सम्बन्धित पदार्थ से अथवा एक ज्ञान के सम्बन्धित पदार्थ की उपलब्धि से निश्चित होता है और ये दोनो कर्म-कर्तृभाव से पर्युदास वृत्ति के द्वारा अनुपलब्धि कहे जाते हैं। प्रसज्य वृत्ति के द्वारा उपलब्धि की निवृत्ति मात्र ही अनुपलब्धि नहीं है। वह तो स्वयं ही कुछ नहीं है वह साधन कैसे होगी। प्रतिषेध्य से अन्य का ज्ञान मात्र भी अनुपलब्धि नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर रूप के उपलब्ध होने से भी नारंगी के रस का निषेध होने लगेगा। इसलिए निषेध्य से अन्य से विशिष्ट ही दो वस्तु, प्रदेश अथवा प्रदेश ज्ञान अनुपलब्धि है यह निश्चित हुआ। इसलिए अभाव को सिद्ध नहीं किया जाता है। उसकी सिद्धि तो घट रहित

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



अभावव्यवहारस्तु मूढं प्रति अनुपलम्भेन साध्यते। तथा हि—कश्चि-न्मूढो रजःप्रभृतिषु सांख्यप्रसिद्धेषु गुणेष्वनुपलम्भेन प्रवर्तिताभाव-व्यवहारोऽपि पुनः सर्वं सर्वत्रास्तीति स्वसिद्धान्ताभ्यासात् क्वाऽपि प्रदेशादौ घटानुपलम्भे सत्यपि नाभावव्यवहारं करोतीत्यनुपलम्भेन त्रिविधो व्यवहारः कार्यते। तत्र निःशङ्कगमनागमनलक्षणः कायिको व्यवहारः। घटो नास्तीति वाचिकः। ईदृश एव अन्तर्जल्पाकारो मानसिकश्चेति। अनुपलम्भस्य कर्मधर्मपक्षे साध्येन सह [सादृश्ये] तादात्म्यलक्षण एव सम्बन्धो बोद्धव्यः। कर्तृधर्मपक्षे तु तदुत्पत्तिः। तथा हि—घटविविक्तप्रदेशः प्रदेशज्ञानं वाऽनुपलब्धिरित्युक्तम्। असद्व्यवहारयोग्यत्वं च तस्य स्वभावः [न कार्य] ज्ञानं तु प्रदेशस्य कार्यमिति ॥

---

स्थान को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से ही हो जाती है। अभाव व्यवहार तो मूढ़ व्यक्ति के लिए अनुपलब्धि के द्वारा सिद्ध किया जाता है। जैसे कि मूढ़ व्यक्ति सांख्य दर्शन में प्रसिद्ध रजस् आदि गुणों के प्रति अनुपलब्धि के द्वारा अभाव व्यवहार में तो प्रवर्तित होता है फिर भी सब कुछ सब जगह रहता है इस प्रकार के अपने सिद्धान्त के अभ्यास से किसी स्थान विशेष में घट के अनुपलब्ध होने पर भी अभाव का व्यवहार नहीं करता है इसलिए अनुपलब्धि के द्वारा तीन प्रकार का व्यवहार कराया जाता है। निशंक होकर जाना और आना यह शारीरिक व्यवहार है। घट नहीं है यह वाचिक व्यवहार है। इसी प्रकार आन्तरिक जल्प के रूप का मानसिक व्यवहार भी है। अनुपलम्भ का कर्म के धर्म के पक्ष में साध्य के साथ तादात्म्य रूप ही सम्बन्ध समझना चाहिए। कर्ता के धर्म के पक्ष में तो उससे उत्पत्ति सम्बन्ध समझना चाहिए। असत् व्यवहार की योग्यता तो उसका स्वभाव है (कार्य नहीं); स्थान का ज्ञान तो कार्य है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



ननु यद्यनुपलब्धेरपि तादात्म्यतदुत्पत्ती एव सम्बन्धौ, कथं तर्हि कार्यस्वभावाभ्यामनुपलब्धेर्भेदः ? प्रतिषेधसाधनात् भेदो न वस्तुतः। यथोक्तमाचार्येण—'अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ, एकः प्रतिषेधहेतुः' इति। उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशिष्टेन देशविप्रकृष्टे सुमेर्वादौ कालविप्रकृष्टे भविष्यच्छङ्खचक्रवर्त्यादौ स्वभावविप्रकृष्टे पिशाचादावनुपलम्भमात्र सम्भवेऽपि नाभावव्यवहार इत्युक्तं भवति। इयं चानुपलब्धिर्वर्तमानकाले प्रमाणं विशिष्टस्मरणसद्भावेऽतीतकाले च, अनागतकाले त्वनुपलब्धिः स्वयमेव सन्दिग्धरूपा। ततो न प्रमाणम्। [ अनयाऽनुपलब्ध्याऽभावव्यवहारः साध्यते, न त्वभावः। तस्य प्रत्यक्षेणैव सिद्धत्वादित्युक्तम् प्राक् ] यथाऽऽह न्यायवादी—'अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिरनु-

अब यहाँ यह आशंका की जाती है कि यदि अनुपलब्धि का भी सम्बन्ध तादात्म्य और तद् उत्पत्ति ही है तो कार्य और स्वभाव से अनुपलब्धि में कैसे भेद है ? उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि वस्तुतः भेद नहीं है, प्रतिषेध के साधन करने से भेद है। जैसे कि आचार्य ने कहा है:—यहाँ दो वस्तु साधन हैं एक प्रतिषेध हेतु है। उपलब्धि के लक्षण की प्राप्तिता से युक्त व्यक्ति को दूरस्थ देश में विद्यमान सुमेरु आदि की, काल से दूरस्थ भविष्यत् काल में होने वाले शंखचक्रवर्ति आदि की, तथा स्वभाव से दूर पिशाच आदि की अनुपलब्धि मात्र के होने से भी अभाव व्यवहार नहीं होता है वह स्पष्ट हो जाता है। यह अनुपलब्धि वर्तमान काल में ही प्रमाण है। विशिष्ट के स्मरण रहने पर भूतकाल में भी प्रमाण हो सकती है किन्तु भविष्यत् काल में अनुपलब्धि स्वयं ही संदिग्ध रूप होती है; इसलिए प्रमाण नहीं है। [ इस अनुपलब्धि से अभाव का व्यवहार सिद्ध किया जाता है अभाव नहीं क्योंकि अभाव तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो जाता है यह कहा जा चुका है ]। जैसे न्यायवादी का कहना है कि जिस अतीत की स्मृति एवं संस्करण कुण्ठित नहीं हो उस अतीत की और वर्तमान काल की, किसी ज्ञाता के प्रत्यक्ष की निवृत्ति रूप अनुपलब्धि,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



पलब्धिरभावव्यवहारसाधनी इति। तत्र यदा दूरत्वान्निषेध्यस्यायोग्य-देशत्वं स्यात्, तदा दृश्यानुपलब्धिः साक्षात्प्रयोक्तुं न शक्यत इति कार्यानुपलब्ध्यादयः प्रयुज्यन्ते। अत एवेयं प्रयोगभेदेन षोडशधा भवति। (१) तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा—नास्त्यत्र धूमः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः। प्रतिषेध्यस्य धूमस्य यः स्वभावः तस्येहानुपलब्धिः।(२) कार्यानुपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति, धूमाभावात्। प्रतिषेध्यानां हि धूमकारणानां कार्यं धूमः, तस्येहानुपलब्धिः। (३) कारणानुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र धूमः दहनाभावात्। प्रतिषेध्यस्य धूमस्य कारणं दहनः, तस्येहानु-पलब्धिः। (४) व्यापकानुपलब्धिर्यथा—नात्र शिंशपा, वृक्षाभावात्। प्रतिषेध्यायाः शिंशपायाः व्यापको वृक्षः, तस्येहानुपलब्धिः। (५) स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा-नात्र शीतस्पर्शः वह्नेरिति। प्रतिषेध्यस्य

---

अभाव व्यवहार की साधिका है। ऐसी स्थिति में जब दूर आदि होने के कारण निषेध्य वस्तु में उचित देश आदि योग्यता नहीं रहती तब दृश्य की अनुपलब्धि का साक्षात् प्रयोग करना संभव नहीं होता इसलिए कार्यानुपलब्धि आदि का प्रयोग किया जाता है। इसलिए यह प्रयोग के भेद से सोलह प्रकार की हो जाती है। (१) स्वभावानुपलब्धि जैसे:—यहाँ धूम नहीं है क्योंकि उपलब्धि के लक्षण युक्त होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है। (२) कार्यानु-पलब्धि जैसे:—यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले धूम के कारण नहीं हैं क्योंकि धूम का अभाव है। प्रतिषेध्य जो धूम के कारण हैं उसका कार्य रूप धूम है उसकी अनुपलब्धि है। (३) कारण की अनुपलब्धि जैसे:—यहाँ धूम नहीं है अग्नि के न होने के कारण। प्रतिषेध्य धूम उसके कारण जो अग्नि है उसकी यहाँ अनुपलब्धि है। (४) व्यापकानुपलब्धि जैसे:—यहाँ शिंशपा ( सिसम का वृक्ष ) नहीं है क्योंकि वृक्ष नहीं है। प्रतिषेध्य शिंशपा से व्यापक जो वृक्ष है वह यहाँ अनुपलब्धि है। (५) स्वभाव विरुद्ध-उपलब्धि जैसे:—यहाँ शीत स्पर्श नहीं है क्योंकि अग्नि है। प्रतिषेध्य शीत स्पर्श का जो स्वभाव है उससे विरुद्ध अग्नि है उसकी यहाँ उपलब्धि है। (६) कार्यविरुद्ध-उपलब्धि जैसे-यहाँ अप्रतिबद्ध

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



शीतस्पर्शस्य यः स्वभावः तस्य विरुद्धो वह्निः तस्य चेहोपलब्धिः। (६) कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति, वह्नेरिति। अन्त्यदशाप्राप्तमेव कारणं कार्यं जनयति, न सर्वं कारणम् ततो विशेषणोपादानम्। प्रतिषेध्यानां शीतकारणानां कार्यं शीतं, तस्य विरुद्धो वह्निः, तस्येहोपलब्धिः (७) कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा-नास्य रोमहर्षादिविशेषाः सन्ति, सन्निहितदहनविशेषत्वात्। प्रतिषेध्यानां रोमहर्षादिविशेषाणां कारणं शीतं, तस्य विरुद्धो दहनविशेषः, तस्य चेहोपलब्धिः। (८) व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा-नात्र तुषारस्पर्शः, दहनात्। प्रतिषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं, तस्य विरुद्धो दहनविशेषः तस्येहोपलब्धिः। (९) स्वभावविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा, नात्र शीतस्पर्शः, धूमात्। प्रतिषेध्यस्य शीतस्पर्शस्य यः स्वभावस्तस्य विरुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूमः, तस्य चेहोपलब्धिः। (१०) कार्यविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीत-

---

सामर्थ्य वाले शीत के कारण नहीं हैं अग्नि के होने के कारण। अन्त्यदशा को प्राप्त करने वाले कारण ही कार्य को उत्पन्न करते हैं सभी कारण नहीं इसलिए कारण में उक्त विशेषण का उपयोग किया गया है। प्रतिषेध्य शीत के कारणों का कार्य शीत है उसका विरुद्ध अग्नि है उसकी यहाँ उपलब्धि है। (७) कारण विरुद्ध-उपलब्धि-जैसे-इस व्यक्ति के रोम विशेष प्रकार से खड़े नहीं हो रहे हैं क्योंकि यह अग्नि विशेष के समीप है। प्रतिषेध्य 'विशेष प्रकार से रोम के खड़ा होने' का कारण शीत, उसका विरुद्ध जो अग्नि विशेष है उसकी यहाँ उपलब्धि है। (८) व्यापक विरुद्धउपलब्धिः—जैसेः—यहाँ तुषार स्पर्श नहीं है अग्नि होने के कारण। प्रतिषेध्य तुषार के स्पर्श का व्यापक शीत, उसका विरुद्ध अग्नि विशेष उसकी यहाँ उपलब्धि है। (९) स्वभाव विरुद्ध कार्य उपलब्धि-जैसेः—यहाँ शीत स्पर्श नहीं है धूम होने के कारण। प्रतिषेध्य शीत स्पर्श का जो स्वभाव है उसका विरुद्ध अग्नि, उसका कार्य धूम, उस धूम की यहाँ उपलब्धि है। (१०) कार्य विरुद्ध कार्य-उपलब्धिः—जैसेः—यहाँ अप्रतिबद्ध -सामर्थ्य वाले शीत के कारण नहीं है धूम के रहने के कारण। प्रतिषेध्य शीत

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



कारणानि सन्ति धूमादिति । प्रतिषेध्यानां शीतकारणानां कार्यं शीतं, तस्य विरुद्धो, वह्निः, तस्य कार्यं धूमः, तस्य चेहोपलब्धिः, (११) कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—न रोमहर्षादिविशेषयुक्तस्पर्शवानयं प्रदेशो धूमादिति । प्रतिषेध्यानां हि रोमहर्षादिस्पर्शविशेषाणां कारणं शीतम् तस्य विरुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूमः, तस्य चेहोपलब्धिः । (१२) व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा-नात्र तुषारस्पर्शः, धूमादिति । निषेध्यस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतम्, तस्य विरुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूमः, तस्य चेहोपलब्धिः । (१३) स्वभावविरुद्ध-व्याप्तोपलब्धिर्यथा—नात्र वह्निः, तुषारस्पर्शात् । प्रतिषेध्यस्य हि वह्नेर्यः स्वभावस्तस्य विरुद्धं शीतम्, तेन व्याप्तस्तुषारस्पर्शः, तस्य चेहोपलब्धिः । (१४) कार्यविरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि वह्निकारणानि सन्ति, तुषारस्पर्शादिति । प्रतिषेध्यानां वह्निकारणानां कार्यं वह्निः, तस्य

---

के कारण का कार्य शीत है, उसका विरुद्ध अग्नि है, उसका धूम जिसकी यहाँ उपलब्धि है । ( ११ ) कारणविरुद्ध कार्य उपलब्धि:- जैसे:-यह स्थान रोम खड़ा कराने वाला स्पर्श विशेष वाला नहीं है क्योंकि यहाँ धूम है । प्रतिषेध्य रोम खड़ा कराने वाले स्पर्श विशेष का कारण शीत, उसका विरुद्ध अग्नि, उसका कार्य धूम, उसकी यहाँ उपलब्धि है । ( १२ ) व्यापक विरुद्ध कार्य-उपलब्धि:— जैसे:—यहाँ तुषार स्पर्श नहीं है क्योंकि धूम है । निषेध्य तुषार स्पर्श का व्यापक शीत, उसका विरुद्ध अग्नि, उसका कार्य धूम, उस धूम की उपलब्धि है । ( १३ ) स्वभाव विरुद्ध व्याप्त-उपलब्धि : जैसे:—यहाँ अग्नि नहीं है तुषार के स्पर्श होने के कारण । प्रतिषेध्य अग्नि का जो स्वभाव है उसका विरुद्ध शीत है, उससे व्याप्त तुषार स्पर्श है उसकी यहाँ उपलब्धि है । ( १४ ) कार्य विरुद्ध व्याप्त-उपलब्धि : जैसे:—यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले अग्नि के कारण नहीं हैं क्योंकि तुषार का स्पर्श है । प्रतिषेध्य अग्नि-कारणों का कार्य अग्नि, उसका विरुद्ध शीत उससे व्याप्त तुषार-स्पर्श उसकी यहाँ उपलब्धि है । ( १५ ) कारण विरुद्ध व्याप्त उपलब्धि : जैसे:—यहाँ धूम

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri



विरुद्धं शीतम्, तेन व्याप्तस्तुषारस्पर्शः, तस्य चेहोपलब्धिः। (१५) कारणविरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—नात्र धूमस्तुषारस्पर्शादिति। प्रतिषेध्यस्य हि धूमस्य यत्कारणमग्निः तस्य विरुद्धं शीतम्, तेन व्याप्तस्तुषारस्पर्शः, तस्य चेहोपलब्धिः। (१६) व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—नायं नित्यः, कदाचित्कार्यकारित्वात्। प्रतिषेध्यस्य नित्यत्वस्य निरतिशयत्वं व्यापकं, तस्य विरुद्धं सातिशयत्वं, तेन व्याप्तं कदाचित्कार्यकारित्वं, तस्य चेहोपलब्धिः। एते च कार्यानुपलब्ध्यादयः पञ्चदश प्रयोगाः स्वभावानुपलब्धिस्वभावा एव प्रतिपत्तव्याः। प्रयुक्तिभेदेन परं भेदः। तत्र स्वाभावानुपलम्भेनासद्व्यवहारयोग्यत्वं साध्यते, न त्वभावः। तस्य च प्रत्यक्षेणैव सिद्धत्वात्। अपरैश्च सर्वैरभावोऽभावव्यवहारश्च साध्यते, तेषां परोक्षविषयत्वात्॥

इति तर्कभाषायां स्वार्थानुमानपरिच्छेदो
द्वितीयः समाप्तः॥

---

नहीं है तुषार-स्पर्श होने के कारण। प्रतिषेध्य धूम का जो कारण अग्नि है, उसका विरुद्ध शीत है, उससे व्याप्त तुषार-स्पर्श है उसकी यहाँ उपलब्धि है। (१६) व्यापक विरुद्ध व्याप्त-उपलब्धिः—जैसे:—यह नित्य नहीं है क्योंकि यह कदाचित् कार्य करने वाला है। प्रतिषेध्य नित्यत्व का व्यापक निरतिशयत्व है उसका विरुद्ध सातिशयत्व है उससे व्याप्त कदाचित् कार्यकारित्व है उसकी यहाँ उपलब्धि है। इन कार्यानुपलब्धि आदि प्रयोगों को स्वभावानुपलब्धि रूप ही समझना चाहिए। प्रयुक्ति भेद से ही ये भेद हैं। वहाँ स्वभाव के अनुपलम्भ के द्वारा असत् व्यहार की योग्यता को सिद्ध किया जाता है अभाव को नहीं, क्योंकि उसकी सिद्धि तो प्रत्यक्ष से ही हो जाती है। दूसरे सभी अभाव को और अभाव व्यवहार को सिद्ध करते हैं क्योंकि उनके मत में वे परोक्ष विषय हैं (और प्रत्यक्ष विषय नहीं है)।

यह तर्कभाषा का स्वार्थानुमान द्वितीय परिच्छेद समाप्त हुआ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

9849986237

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu